अल-रिसाला
अक्तूबर–दिसम्बर 2021
ज़िंदगी ग़फ़लत का कारख़ाना नहीं,
ज़िंदगी होशियारी का मैदान है।

माहनामा 'अल-रिसाला' को हिंदी स्क्रिप्ट में लाने की यह हमारी एक कोशिश है। मुश्किल उर्दू अल्फ़ाज़ को भी आसान कर दिया गया है, ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग इसे पढ़कर फ़ायदा उठाएँ और अपनी ज़िंदगी, अपनी शख़्सियत में मुस्बत (positive) बदलाव ला सकें।

नीचे दी गई हमारी वेबसाइट और सोशल मीडिया पेजिस से मज़ीद फ़ायदा उठाएँ।

**नक़ल-ए-हुरुफ़ी**
सबा जबीं अब्बास

**संपादन टीम**
मोहम्मद आरिफ़, फ़रहाद अहमद
ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी, राजेश कुमार

**Centre for Peace and Spirituality International**
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

 cpsglobal.org
 twitter.com/WahiduddinKhan
 facebook.com/maulanawkhan
 youtube.com/CPSInternational
 +91-99999 44118
 t.me/maulanawahiduddinkhan
 linkedin.com/in/maulanawahiduddinkhan
 instagram.com/maulanawahiduddinkhan

To order books of
Maulana Wahiduddin Khan, please contact
**Goodword Books**
Tel. 011-41827083,
Mobile: +91-8588822672
E-mail: sales@goodwordbooks.com

**Goodword Bank Details**
Goodword Books
State Bank of India
A/c No. 30286472791
IFSC Code: SBIN0009109
Nizamuddin West Market Branch

# विषय-सूची

# क़यामत का तौल

क़ुरआन में क़यामत के दिन की एक हक़ीक़त इन अल्फ़ाज़ में बयान की गई है—

فَأَمَّا مَنْ ثَقُلَتْ مَوَازِينُهُ- فَهُوَ فِي عِيشَةٍ رَاضِيَةٍ-
وَأَمَّا مَنْ خَفَّتْ مَوَازِينُهُ - فَأُمُّهُ هَاوِيَةٌ

"फिर जिस शख़्स के आमाल का वज़न भारी होगा, वह दिल-पसंद आराम में होगा और जिस शख़्स के आमाल का वज़न हल्का होगा, तो उसका ठिकाना गढ़ा है।" (101:6-9)

मीज़ान का मतलब तौल (scale) है। यह एक तम्सील की ज़बान में है। यह एक कैफ़ियाती हक़ीक़त को मिक़दार ज़बान (quantitative term) में बयान किया गया है यानी मानवी बात को माद्दी ज़बान में बयान किया गया है। आख़िरत में आमाल का दर्जा उनकी मानवी अहमियत के ऐतबार से होगा, किसी क़िस्म के जाने पहचाने तराज़ू और बाट से नहीं।

किसी आदमी ने जो अमल किया हो, उसका एक ज़ाहिरी पहलू होता है, मगर आख़िरत में आमाल का दर्जा उनके मानवी पहलू के ऐतबार से होगा। मसलन एक शख़्स ने दिरहम-ओ-दीनार दिया और दूसरे शख़्स ने नीयत के ऐतबार से बड़ा काम किया। आख़िरत में उस अमल का दर्जा ज़्यादा होगा, जो नीयत के ऐतबार से बड़ा अमल हो।

किसी आदमी का अमल नीयत के ऐतबार से किस दर्जे का अमल है, यह सिर्फ़ अल्लाह को मालूम है। दुनिया में इसे मुतअय्यन नहीं किया जा सकता। मसलन एक शख़्स बहुत पैसा देता है, मगर दिखावे के लिए। उसके मुक़ाबले में दूसरा शख़्स कम देता है, मगर उसकी नीयत

ख़ालिस है। दुनिया में आमाल का वज़न ज़ाहिर के ऐतबार से होता है, जबकि आख़िरत में आमाल का वज़न उनकी अंदरूनी हक़ीक़त के ऐतबार से होगा। क़ुरआन में जिस तौल का ज़िक्र है, वह आख़िरत का तौल है, जो कि कैफ़ियत के ऐतबार से होगा, न कि कमिय्यत के ऐतबार से। और यह एक हक़ीक़त है कि कैफ़ियत के ऐतबार से किसी चीज़ की क़द्र-ओ-क़ीमत मुतअय्यन करना दुनिया में मुमकिन नहीं, यह सिर्फ़ आख़िरत के मीज़ान में मुमकिन होगा। दुनिया में हम इस मामले को मुख़्तसर तौर पर जान सकते हैं, न कि मुकम्मल सूरत में।

## पहला क़दम

मुसलमान लीडर बड़े जोश से कहते हैं कि मुसलमानों को ख़ुद अपने पाँव पर खड़ा होना चाहिए। यह जुमला ग्रामर के लिहाज़ से सही है, लेकिन हक़ीक़त के लिहाज़ से ख़ाली है। इसलिए कि मौजूदा हालात में मुसलमान, उनकी अवाम और लीडर दोनों का हाल यह है कि वे इस एहसास में जीते हैं कि वे दुश्मनों के घेराव में हैं, वे दुश्मनों की साज़िश का शिकार हैं। उनके दुश्मन उनकी तरक़्क़ी में रोक बने हुए हैं। हर लिखने और बोलने वाला आदमी बराह-ए-रास्त या बिल-वास्ता इसी नफ़्सियात का शिकार है। इसी नफ़्सियात के ज़ेर-ए-असर वह कलाम करता है। यह नफ़्सियात बिला-शुबहा इस बात के लिए एक रुकावट है कि मुसलमान आज़ादाना प्लानिंग करें और अपना मुस्तक़बिल ख़ुद बनाएँ।

इस मामले में पैग़ंबर-ए-इस्लाम का तरीक़ा बहुत ही वाज़ेह तरीक़ा है। जब आपको नबुव्वत मिली तो अरब में हर तरफ़ बुतपरस्ती का ग़लबा था, लेकिन आपने एक दिन भी बुतपरस्ती के ख़िलाफ़ एहतिजाज़ में ज़ाए नहीं किया, आपने मुकम्मल तौर पर आज़ाद ज़ेहन के साथ

अपनी तहरीक की मंसूबाबंदी की, यहाँ तक कि आपने बुतपरस्ती के कल्चर को अपने लिए मौक़े (opportunity) में कन्वर्ट कर लिया। मसलन आपने बुतपरस्ती के लिए जमा होने वालों को ख़ुदाई पैग़ाम सुनाने के लिए ऑडियंस के तौर पर इस्तेमाल किया। ब्रिटिश मुअर्रिख़ ई.ई. केलेट (Ernest Edward Kellett) ने दुरुस्त तौर पर कहा है—

"He faced adversity with the determination to wring success out of failure."

"उन्होंने मुश्किलात का मुक़ाबला इस अज़्म से किया कि उन्होंने नाकामी से कामयाबी को निचोड़ा।"

(A Short History of Religions by E.E. Kellett, pp. 331-32, Middlesex)

मौजूदा ज़माने के जितने भी लिखने और बोलने वाले हैं, वे इस स्पिरिट से महरूम हैं। वे जानते ही नहीं कि मुस्तक़बिल की तामीर का पहला क़दम क्या होता है। हमारे तमाम लिखने और बोलने वाले इस मामले में बेख़बरी का केस बने हुए हैं। ऐसे लोग शब्द-जंजाल का केस बन सकते हैं, लेकिन मुस्तक़बिल की तामीर का केस नहीं बन सकते।

## अहल-ए-किताब का रोल

क़ुरआन में इज़्हार-ए-हक़ के लिए बाद के ज़माने के हवाले से बताया गया है— "जल्द ही हम उनको अपनी निशानियाँ दिखाएँगे कायनात में भी और ख़ुद उनके अंदर भी" (41:53)। इसी तरह क़ुरआन में बताया गया है कि अल्लाह तआला फ़िरऔन की लाश को डूबने के बाद महफ़ूज़ रखेगा, ताकि वह बाद वालों के लिए निशानी बने (10:92)। इसी तरह क़ुरआन में हज़रत इब्राहीम की तारीख़ का हवाला

दिया गया है (6:75)। ये सब वाक़िआत क़ुरआन में सिर्फ़ इशारे की ज़बान में हैं, तफ़्सील की ज़बान में नहीं। तफ़्सील के लिए बताया गया है कि ग़ैर-अहल-ए-इस्लाम के ज़रिये उन्हें खोला जाएगा। (16:43)

अब सवाल यह है कि वे कौन ग़ैर-अहल-ए-इस्लाम हैं, जिनके ज़रिये निशानियाँ खोली जाएँगी। ग़ौर करने के बाद मैंने यह समझा है कि ये अहल- ए-किताब (यहूद-ओ-नसारा) हैं। अल्लाह तआला ने अपनी मंसूबाबंदी के ज़रिये उन लोगों को पहले प्रवास (diaspora) में भेजा। वहाँ उन लोगों की तर्बियत हुई। उन्होंने अहल-ए-मग़रिब के साथ रहकर जदीद उलूम में महारत पैदा की। इसके बाद उन्होंने उन मौज़ूआत पर तहक़ीक़ की। खुदाई (excavation) के ज़रिये उन्होंने तारीख़ी मालूमात को इकट्ठा किया। यह गोया ग़ैर-अहल-ए-इस्लाम के ज़रिये पिछली क़ौमों के अहवाल की दरयाफ़्त थी, जो अहल-ए-किताब के ज़रिये अंजाम पाई। ये मालूमात क़ुरआन के मज़ामीन को समझने के लिए बहुत ज़्यादा मददगार थे।

मुस्लिम उलमा ने बद-क़िस्मती से अहल-ए-किताब के नए रोल को नहीं समझा। वे सिर्फ़ उनके ख़िलाफ़ फ़तवे की ज़बान में लिखते और पढ़ते रहे। ज़रूरत है कि मुस्लिम उलमा अपने रवैये पर नज़र-ए-सानी करें और अहल-ए-किताब के ताईदी रोल को दरयाफ़्त करके उनसे फ़ायदा उठाएँ। मसलन यह कि इसराईली साइंसदानों ने सहराई इलाक़े को नए तरीक़ों से इस्तेमाल करके ज़रई तौर (agriculture) पर तरक़्क़ीयाफ़्ता बना दिया। अब अरबों को यह मौक़ा है कि वे उनसे इस्तिफ़ादा करके अपने इलाक़े को भी तरक़्क़ी दें। मुत्तहिदा अरब अमीरात (U.A.E.) और इसराईल के दरम्यान अमन और आपसी तआवुन का मुआहदा हुआ है। 13 अगस्त, 2020 को यू.ए.ई. के क्राउन प्रिंस मुहम्मद बिन ज़ाएद ने अपने ट्विटर अकाउंट से इस मुआहदे का ऐलान किया। यह अहल-ए-किताब से उनकी ख़ुसूसी (specialized) फ़ील्ड में तआवुन के लिए बहुत अहम क़दम है।

# अख़्लाक़ियात पर मबनी समाज

अख़्लाक़ियात पर मबनी समाज बनाना हमेशा से इंसान का मतलूब निशाना रहा है। इस पर बड़े-बड़े दिमाग़ काम करते रहे हैं, मगर अमलन यह हुआ कि अख़्लाक़ियात पर मबनी समाज लोगों का मतलूब निशाना तो बना रहा, लेकिन अमलन ऐसा कभी नहीं हुआ कि कामिल मायनों में इस मतलूब निशाने पर मबनी एक बाक़ायदा समाज अमली तौर पर क़ायम हो जाए।

अख़्लाक़ियात का यह ख़ला हमेशा इंसान की सोच का मरकज़ बना रहा। कार्ल मार्क्स ने पहली बार यह किया कि अख़्लाक़ियात को हुकूमती सतह पर नाफ़िज़ करने का दर्जा दे दिया। गोया उसने इस निशाने को लोगों के लिए ब-ज़ोर-ए-ताक़त क़ाबिल-ए-अमल बना दिया, मगर यह कोशिश सिर्फ़ मज़ीद तबाही का ज़रिया बनकर रह गई। हक़ीक़त यह है कि अख़्लाक़ियात इंसानी इरादे और इख़्तियार का मौज़ू है, न कि क़ानून के ज़ोर पर नाफ़िज़ करने का मौज़ू। अख़्लाक़ का मतलब यह है कि मसलन मार्क्स का नज़रिया यह था कि दौलत का बराबर बँटवारा किया जाए। यह अख़्लाक़ी तसव्वुर है यानी आदमी को कमाई के ब-क़द्र देने के बजाय मुल्क के हर शहरी के दरम्यान दौलत की बराबर तक़्सीम वग़ैरह।

मुसलमान दुनिया में सैय्यद अबुल आला मौदूदी और सय्यद क़ुतुब ने कार्ल मार्क्स के इस तसव्वुर को असलन इस्लामाईज़ किया। यह नज़रिया मुसलमान दुनिया में काफ़ी मक़बूल हुआ। अगरचे अमलन सिर्फ़ यह हुआ कि इससे मुसलमान दुनिया को नफ़रत और टकराव के सिवा कुछ और नहीं मिल सका। अख़्लाक़ी बुनियाद पर दौलत की तक़्सीम सिर्फ़ ताक़त के ज़ोर पर हो सकती है, लेकिन आप जब ब-ज़ोर

लोगों के दरम्यान ऐसा करेंगे तो नफ़रत और लड़ाई का माहौल पैदा होगा, क्योंकि इस तसव्वुर के मुताबिक़ अहल (deserving) लोगों का हक़ मारा जाएगा और ना-अहल लोगों को दौलत मिलेगी यानी इस तरीक़े को आदमी जबरन क़ुबूल कर ले, तब वह इसे दिल से नापसंद करेगा, बल्कि वह इससे नफ़रत करेगा।

हक़ीक़तपसंदी का तक़ाज़ा है कि अख़्लाक़ियात को तालीम-ओ-तर्बियत का मौज़ू समझा जाए, न कि जबरी क़ानून का मौज़ू। फ़ितरत के मुताबिक़ यही क़ाबिल-ए-अमल बात है।

## इल्हाद या डी-कंडीशनिंग

अपने तजुर्बे से मुझे एक नई बात मालूम हुई, जिसे मैंने इससे पहले न सुना था और न पढ़ा था। वह यह कि अंग्रेज़ी तालीमयाफ़्ता नौजवान लड़के और लड़कियाँ दोनों ब-ज़ाहिर ग़ैर-मज़हबी मालूम होते हैं, लेकिन वे हक़ीक़त में ग़ैर-मज़हबी नहीं हैं। ज़्यादा सही लफ़्ज़ों में वे ग़ैर-रिवायती हैं। उनके घर और उनके माहौल ने उनके अंदर अपने आबाई मज़हब के लिए जो अक़ीदत पैदा की थी, उसे जदीद अंग्रेज़ी तालीम ने ख़त्म कर दिया, गोया कि उनकी फ़ितरत के ऊपर जो रिवायती पर्दा पड़ गया था, वह हट गया और वे अपनी असल फ़ितरत के क़रीब आ गए।

इस तजुर्बे से मैंने यह समझा है कि मॉडर्न एजुकेशन के इदारे अपनी हक़ीक़त के ए’तिबार से क़त्लगाह नहीं हैं, बल्कि वह ततहीर-ए-ज़ेहन यानी ज़ेहन की पाकीज़गी के इदारे हैं। इस नतीजे को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे दरअस्ल डी-कंडीशनिंग के इदारे (institutions of deconditioning) हैं। ज़ेहनी ततहीर के इस अमल की बिना पर ऐसे लोग इस क़ाबिल हो गए हैं कि वे किसी बात को ज़्यादा खुले ज़ेहन के साथ समझ सकें।

एक हदीस के मुताबिक़, हर पैदा होने वाला अपनी फ़ितरत पर पैदा होता है, फिर उसे उसके वालिदैन अपने-अपने मज़हब में ढाल लेते हैं।

كُلُّ مَوْلُودٍ يُولَدُ عَلَى الفِطْرَةِ، فَأَبَوَاهُ يُهَوِّدَانِهِ،
أَوْ يُنَصِّرَانِهِ، أَوْ يُمَجِّسَانِهِ

(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नं० 1385)

यह एक मज़हबी कंडीशनिंग का मामला है। यह मज़हबी कंडीशनिंग दावत-ए-हक़ के मिशन के लिए सबसे बड़ी रुकावट है। इस कंडीशनिंग की डी-कंडीशनिंग दावत की कामयाबी का पहला मरहला है। मौजूदा सेक्युलर तालीम का निज़ाम डी-कंडीशनिंग के इसी अमल को अंजाम दे रहा है। गोया कि जिन नौजवानों के मुतआल्लिक़ यह समझा जाता था कि जदीद तालीम के बाद वे मज़हब से फिर गए हैं, बर-अक्स तौर पर जदीद तालीम ने उन्हें हक़ीक़ी मज़हब से क़रीब कर दिया है। यह एक नया इम्कान है, जो जदीद तालीम ने पैदा किया है। इस इम्कान को इस्तेमाल करना दावती मंसूबाबंदी का पहला उसूल है।

क़ुरआन में फ़ितरत का यह उसूल बताया गया है कि ना-पसंदीदा सूरत-ए-हाल में भी एक मौक़ा मौजूद रहता है (2:216)। मौजूदा तालीमी निज़ाम का यह पहलू इसी फ़ितरी क़ानून की एक मिसाल है।

## असरी तक़ाज़े : चंद क़ाबिल-ए-ग़ौर पहलू

हदीस में आया है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

إِنَّ اللَّهَ يَبْعَثُ لِهَذِهِ الْأُمَّةِ عَلَى رَأْسِ كُلِّ مِائَةِ سَنَةٍ مَنْ يُجَدِّدُ لَهَا دِينَهَا

“अल्लाह इस उम्मत के लिए हर सौ साल के सिरे पर एक शख़्स को उठाएगा, जो उसके लिए उसके दीन की तज्दीद (revival) करेगा।”

(सुनन अबू दाऊद, हदीस नं० 4291)

एक रिवायत में ये अल्फ़ाज़ हैं –

يُبَيِّنُ لَهُمْ أَمْرَ دِينِهِمْ

“उम्मत-ए-मुहम्मदी के लिए उनके दीन के मामले को बयान करेगा।” (हिलियातुल औलिया, जिल्द 9, सफ़्हा 97)

यह कोई पुर-असरार (mysterious) बात नहीं। यह फ़ितरी क़ानून के तहत पेश आने वाला एक मामला है। इंसान एक ऐसी मख़्लूक़ है, जिसकी उम्र बहुत महदूद है। वह सौ साल से पहले ही मर जाता है। इस तरह हमेशा एक के बाद दूसरी नस्ल आती रहती है। एक तैयारशुदा नस्ल ख़त्म हो जाती है। उसके बाद एक ग़ैर-तैयारशुदा नस्ल पैदा होकर उसकी जगह ले लेती है और ज़रूरत होती है कि जिस तरह पहली नस्ल को तैयार किया गया था, उसी तरह दोबारा अगली नस्लों को तैयार किया जाए। ज़वाल का यह अमल एक मुसलसल अमल है और इसे इंहितात (degeneration) कहा जाता है। तज्दीद (revival) इसी सूरत-ए-हाल की इस्लाह का नाम है।

मज़्कूरा हदीस से मालूम होता है कि इस फ़ितरी प्रॉसेस के मामले में उम्मत-ए-मुहम्मदी का कोई इस्तिसना (exception) नहीं। चुनाँचे हम देखते हैं कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के बाद उम्मत पर जब ज़वाल का दौर आया, तो बार-बार मुजद्दिदीन-ए-इस्लाम (reformers) पैदा होते रहे। मसलन उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ उमवी (वफ़ात : 720 ई०), इब्ने-तैमिया अल-हर्रानी (वफ़ात : 1328 ई०), शाह वलीउल्लाह देहलवी (वफ़ात : 1762 ई०) वग़ैरह। ये लोग बजा तौर पर मुजद्दिद थे और इन्होंने अपने ज़माने के लिहाज़ से तज्दीद (revival) का काम किया।

इंसानी तारीख़ का मुताला किया जाए तो साबितशुदा तौर पर इसके दो दौर मालूम होते हैं— रिवायती दौर (traditional period)

और साइंसी दौर (scientific period)। तारीख़ी तरतीब के लिहाज़ से देखा जाए तो पिछली सदियों में जो मुजद्दिदीन-ए-इस्लाम पैदा हुए, वे सब रिवायती दौर में पैदा हुए। उन्होंने रिवायती दौर में दीन को इंसानी इज़ाफ़ों से पाक करके ताज़ातरीन पेश किया। अब उम्मत-ए-मुस्लिमा साइंसी दौर में पहुँच चुकी है। इस दौर के हालात मुकम्मल तौर पर पिछले दौर से मुख़्तलिफ़ हैं।

इस फ़र्क़ को सामने रखते हुए एक मुसलमान स्कॉलर ने कहा था—

"Quran has to be re-revealed today."

मगर ज़्यादा सही बात यह है कि यह कहा जाए—

"ज़रूरत है कि आज क़ुरआन को दोबारा एक्सप्लेन किया जाए।"

"Quran has to be re-defined today."

तज्दीद-ए-दीन दरअस्ल इस तौज़ीह-सानी (re-definition) का नाम है। मुजद्दिद वह है, जो बदले हुए हालात को समझे और नए हालात में दीन को दोबारा एक्सप्लेन करे। यह काम अपनी हक़ीक़त के ए'तिबार से तज्दीद (revival) का काम है। यह असल दीन का दोबारा इहया (revival) है। इसका कोई ताल्लुक उस अमल से नहीं, जिसे मौजूदा ज़माने में इस्लाह (reformation) या नज़र-ए-सानी (revision) कहा जाता है।

मौजूदा साइंसी दौर में तज्दीद का यह काम पूरी शिद्दत के साथ मतलूब हो चुका है। अब जबकि साइंसी तहक़ीक़ात के मुताबिक़, साइंस-दाँ यह ऐलान कर रहे हैं कि इंसानी तारीख़ अपने ख़ात्मे को पहुँचने वाली है। जिस ज़लज़ले का ज़िक्र क़ुरआन में किया गया है (अज़-ज़िलज़ाल, 99:1), उसके आसार अमलन शुरू हो चुके हैं। यहाँ तक कि अब यह कहा जाने लगा है कि क़यामत अब ज़्यादा दूर नहीं—

Doomsday is not far.

ऐसी हालत में अब आख़िरी वक़्त आ गया है कि इसे मुतय्यन किया जाए कि जदीद साइंसी दौर की निस्बत से तज्दीद-ओ-इहया का जो काम मतलूब है, वह क्या है? और वह क्या है, जिसे जदीद हालात की निस्बत से तज्दीद-ओ-इहया का काम कहा जाएगा? क़ुरआन और हदीस के हवाले से इस काम की नौइयत को पूरी तरह मालूम किया जा सकता है।

## आफ़ाक़ और अन्फ़ुस में ज़ाहिर होने वाली निशानियाँ

क़ुरआन में वाज़ेह तौर पर यह पेशीनगोई मौजूद है कि बाद के दौर में फ़ितरत की छिपी हुई निशानियाँ (signs) ज़ाहिर होंगी और यह ज़रूरत होगी कि इन निशानियों की रोशनी में ख़ुदा के दीन को नए सिरे से दलील के साथ पेश किया जाए। यह ज़रूरत क़ुरआन की एक आयत से मालूम होती है। आयत के अल्फ़ाज़ यह हैं—

سَنُرِيهِمْ آيَاتِنَا فِي الْآفَاقِ وَفِي أَنْفُسِهِمْ حَتَّى يَتَبَيَّنَ لَهُمْ أَنَّهُ الْحَقّ

"अन-क़रीब मुस्तक़बिल में हम उन्हें अपनी निशानियाँ दिखाएँगे, कायनात में भी और ख़ुद उनके अंदर भी, यहाँ तक कि उन पर यह पूरी तरह खुल जाएगा कि यह हक़ है।"(41:53)

इन निशानियों के ज़हूर की पेशीनगोई की गई थी। वे वाज़ेह तौर पर मौजूदा ज़माने में साइंसी तहक़ीक़ात के नतीजे में सामने आ चुकी हैं। मिसाल के तौर पर क़ुरआन में बताया गया था कि हज़रत मूसा के ज़माने के फ़िराऊन का जिस्म ख़ुदा ने महफ़ूज़ कर दिया है और वह बाद के ज़माने में ज़ाहिर होगा (10:92 )। इस आयत के नुज़ूल के बाद तक़रीबन एक हज़ार साल तक यह वाक़िआ लोगों के लिए पुर-असरार (mysterious) बना रहा। उन्नीसवीं सदी के आख़िर में पहली बार साइंसी ज़राए से यह

मुम्किन हुआ कि फ़िरऔन के उस जिस्म को दरयाफ़्त किया जा सके और उसके ज़माने को मालूम किया जा सके। इस तरह की बहुत-सी नई हक़ीक़तें हैं, जो क़ुरआन की सदाक़त की गवाही देती हैं। यह दौर-ए-जदीद के तज्दीदी काम का एक हिस्सा है यानी इन नई दरयाफ़्तों को क़ुरआन की सदाक़त की हैसियत से पेश करना।

## लिसान-ए-क़ौम में दावत

क़ुरआन की सूरह इब्राहीम में पैग़ंबरों के बारे में बताया गया है—

وَمَا أَرْسَلْنَا مِنْ رَسُولٍ إِلَّا بِلِسَانِ قَوْمِهِ لِيُبَيِّنَ لَهُمْ

“और हमने जो भी पैग़ंबर भेजा, उसकी क़ौम की ज़बान में भेजा, ताकि वह उनसे बयान कर दे।” (14:4)

दूसरे अल्फ़ाज़ में, ख़ुदा की तरफ़ से जो भी पैग़ंबर आया, वह अपनी मदऊ क़ौम की ज़बान में कलाम करता था।

क़ुरआन की इस आयत में लिसान से मुराद सिर्फ़ ज़बान (language) नहीं है, बल्कि इसमें कलाम का उस्लूब (idiom) भी शामिल है। मसलन पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने अरबी ज़बान में कलाम किया। यह आपके लिए क़ौम की ज़बान में बोलना था। हज़रत इब्राहीम अलैहिस्सलाम ने ज़मीन और आसमान के मलकूत (kingdom) (अल-अनआम, 6:76) से दलील पेश करते हुए मदऊ के सामने अपनी बात पेश की और हज़रत मसीह अलैहिस्सलाम ने तम्सील (metaphor) के अंदाज़ में अपनी बात कही।

ये दोनों उस्लूब की मिसालें हैं, जो अपने ज़माने के लिहाज़ से इस्तेमाल की गईं। मौजूदा ज़माने में दावती कलाम वह है, जो वक़्त की

ज़बान में हो। वक़्त की ज़बान का एक मतलब दाई के अपने इलाक़े की ज़बान है। फिर यह कि मौजूदा ज़माना ग्लोबलाइज़ेशन का ज़माना है। इस लिहाज़ से ज़रूरी है कि दाई आज की इंटरनेशनल ज़बान में कलाम करे और जैसा कि मालूम है, आज की इंटरनेशनल ज़बान सिर्फ़ एक है और वह है अंग्रेज़ी।

लिसान के मसअले का दूसरा अहम पहलू यह है कि वह उन लोगों के उस्लूब में हो, जिन्हें मुख़ातिब किया जा रहा हो। आज का स्टैंडर्ड उस्लूब वह है, जिसे साइंटिफ़िक उस्लूब कहा जाता है। अगर आज के इंसान को मुख़ातिब करना है तो ज़रूरी है कि दाई का कलाम वक़्त के उस्लूब में हो, वरना यह हाल होगा कि दाई ब-ज़ाहिर बोलेगा, लेकिन मदऊ का माइंड इससे ऐड्रैस नहीं होगा। ऐसे कलाम को दावती कलाम नहीं कहा जा सकता।

साइंटिफ़िक उस्लूब क्या है और क़दीम रिवायती उस्लूब क्या था? क़दीम रिवायती उस्लूब वह था, जिसमें शायरी, अदब, ख़िताबत, रूमानियत, तम्सील और मुबालग़ा-आराई (exaggeration) की ज़बान में किसी बात के कहने को भी कहना समझा जाता था। जज़्बाती तौर पर पुर-कशिश अल्फ़ाज़ बोलने वाले लोग भी दाद के मुस्तहिक़ क़रार पाते थे। मौजूदा ज़माने में इस क़िस्म का उस्लूब पूरी तरह आउट-डेटिड हो चुका है।

मौजूदा ज़माने का स्टैंडर्ड उस्लूब साइंटिफ़िक उस्लूब है। साइंटिफ़िक उस्लूब वह है जो हक़ीक़त पर मबनी उस्लूब हो, जिसके अल्फ़ाज़ और मायनों में कामिल मुसावात पाया जाए। दूसरे लफ़्ज़ों में कहा जा सकता है कि साइंटिफ़िक उस्लूब वह है, जो पूरे मायनों में इल्मी और मंतक़ी (rational) उस्लूब हो। मौजूदा ज़माने में वही लिटरेचर दावती लिटरेचर है, जो इस साइंटिफ़िक उस्लूब में लिखा गया हो और यही साइंटिफ़िक उस्लूब क़ुरआन का उस्लूब है।

# क़दीम दौर, जदीद दौर

इंडिया के अंग्रेज़ी रोज़नामा 'दि टाइम्स ऑफ़ इंडिया' (20 अप्रैल, 1984) में एक दिलचस्प लतीफ़ा नक़ल किया गया है। इसका उनवान है— 'Space is not the Limit'

"Rakesh's journey into space," says the narrator, was tabled for discussion in our house। Every member of the family was expressing his or her opinion on the subject। Then my youngest daughter asked: "Dad, can I become the first Indian spacewoman?"

"Yes dear!" replied the grandmother, "you will be the first Indian spacewoman। I will consult Pandit Girdhar Vyas and see what is in store for you in your kundali."

"My eldest son," Arun interjected, "Mom, you should consult the Russian leader, not astrologers."

यह लतीफ़ा बताता है कि वह क्या फ़र्क़ है, जो दौर-ए-क़दीम और दौर-ए-जदीद के दरम्यान है। क़दीम ज़माने में इल्म नाम था नजूमियों और ज्योतिषियों के क़यासों (speculations) का, मगर मौजूदा ज़माने में इल्म नाम है मुताले और तजुर्बे के ज़रिये दरयाफ़्तशुदा हक़ीक़त का। क़दीम ज़माने का इंसान समझता था कि वाक़िआत पुर-असरार अस्बाब के तहत होते हैं, मगर आज का इंसान यह जानता है कि वाक़िआत मालूम अस्बाब के तहत होते हैं। यही वजह है कि आज का एक तालीमयाफ़्ता नौजवान ख़ला (space) के सफ़र के मामले को ज्योतिषी से पूछने के बजाय ख़लाई साइंस के माहिरीन से पूछने पर ज़ोर देता है।

जदीद इंसान के सामने इस्लाम को पेश करने के लिए इस फ़िक्री तब्दीली का लिहाज़ करना बहुत ज़रूरी है। इस्लाम अगरचे पूरी तरह एक साइंटिफ़िक मज़हब है, मगर उसे पेश करने वाले, मज़्कूरा ग्रैंड मदर की तरह, ग़ैर-साइंसी अंदाज़ में पेश कर सकते हैं। इसकी वजह से ऐसा हो सकता है कि जो इल्ज़ाम हक़ीक़तन दाई के सिर आना चाहिए था, वह ग़ैर-ज़रूरी तौर पर इस्लाम के ऊपर आ जाए।

## तअल्लुक़ात-ए-इंसानी का उसूल

इंसानों के दरम्यान तअल्लुक़ात क़ायम करने के लिए हमेशा एक उसूल दरकार होता है। एक ऐसा उसूल, जो अपने और ग़ैर के दरम्यान मुसावात (equation) के क़ियाम की बुनियाद बन सके। यह एक ऐसी ज़रूरत है, जिसके बग़ैर इंसानी समाज को मुनज़्ज़म करना मुम्किन नहीं होता।

इस्लाम की तारीख़ में इब्तिदाई और मेयारी ज़माना वह है, जिसे पैग़ंबरी का ज़माना कहा जाता है। उस ज़माने में इंसानी तअल्लुक़ात की बुनियाद जिस उसूल पर क़ायम की गई थी, वह शाहिद और मशहूद (अल-बुरूज, 85:3) की बुनियाद थी। ये दोनों लफ़्ज़ शहादत (गवाही) से लिये गए हैं। शाहिद का मतलब है गवाह और मशहूद का मतलब है— वह, जिस पर गवाही दी जाए। शहादत से मुराद दावत है और शाहिद-ओ-मशहूद से मुराद वही चीज़ है, जिसके लिए दाई और मदऊ के अल्फ़ाज़ इस्तेमाल किए जाते हैं।

मुसलमान और दूसरी क़ौमों के दरम्यान शाहिद और मशहूद की यह मुसावात रसूल और सहाबा के ज़माने में क़ायम रही। इसके बाद अब्बासी सल्तनत का ज़माना आया, जबकि दुनिया के बड़े हिस्से में एक

मुसलमान एम्पायर क़ायम हो गया। अब शाहिद और मशहूद के दरम्यान क़ायम मुसावात टूट गई और नई मुसावात  हाकिम और मह्कूम की बुनियाद पर क़ायम हुई। यही वह ज़माना है, जबकि मुसलमान   फ़ुक़हा ने 'दारुल कुफ़्र' और 'दारुल इस्लाम' जैसे अल्फ़ाज़ ईजाद किए। इस मुसावात के तहत दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। मुसलमान अक्सरियत के इलाक़े 'दारुल-इस्लाम' बन गए और इसके मुक़ाबले में ग़ैर-मुसलमान इलाक़े 'दारुल-कुफ़्र' या 'दारुल हर्ब' क़रार पाए।

उन्नीसवीं सदी ईस्वी में यूरोप की ताक़तों (Colonial power) के ज़हूर के बाद यह मुसावात  दोबारा टूट गई। अब मग़रिबी तहज़ीब के ग़लबे के तहत दुनिया में 'डेमोक्रेसी' का ज़माना आया। सियासत के जम्हूरी तसव्वुर के तहत हाकिम और मह्कूम की मुसावात बे-मायना क़रार पाई। इसने अपने हक़ में फ़िक्री बुनियाद खो दी। मुसलमानों और मग़रिबी क़ौमों के दरम्यान बारहवीं और तेरहवीं सदी ईस्वी में सलीबी जंगें (crusades) पेश आईं। इन जंगों में मग़रिबी क़ौमों को शिकस्त हुई, लेकिन इस शिकस्त ने उनके अंदर एक मुस्बत (positive) नतीजा पैदा किया। ये लोग इल्म के मैदान में सरगर्म हो गए, यहाँ तक कि मग़रिबी यूरोप में पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में वह वाक़िआ पेश आया, जिसे यूरोप की नशअते-सानिया (renaissance) कहा जाता है।

इसके बाद मग़रिबी दुनिया में एक नया इंक़लाब आया। मग़रिबी क़ौमों ने तिजारत और सनअत (industry) के नए तरीक़े दरयाफ़्त किए, यहाँ तक कि अवामी पैमाने पर एक नई मुसावात क़ायम हो गई। यह ताजिर और ख़रीदार (trader and customer) की मुसावात थी। इस मुसावात का एक मुस्बत पहलू यह था कि इसके ज़रिये एक नया कल्चर वजूद में आया, जो 'ख़रीदार-दोस्ताना कल्चर' (customer-friendly culture) के उसूल पर मबनी था। यही कल्चर आज की दुनिया में अभी तक बाक़ी है।

इस नाज़ुक वक़्त में मुसलमानों के साथ एक ट्रेजेडी पेश आई। वे हाकिम और महकूम के गुज़रे ज़माने की सोच से बाहर न आ सके। इसका नतीजा यह हुआ कि वे जदीद इकॉनमी की मेनस्ट्रीम में शामिल न हो सके। इस पिछड़ेपन की क़ीमत मुसलमानों को यह देनी पड़ी कि वे मौजूदा ज़माने में दोहरे नुक़सान का शिकार हो गए।

जदीद हालात से हम-आहंग (harmonious) न होने की बिना पर एक तरफ़ यह हुआ कि वे इक़्तिसादियात में दूसरी क़ौमों से पीछे हो गए। दूसरा इससे भी बड़ा नुक़सान यह था कि वे शऊरी या ग़ैर-शऊरी तौर पर डबल स्टैंडर्ड का केस बन गए।

ज़ेहनी तौर पर वे दूसरी क़ौमों के बारे में मनफ़ी (negative) ख़्यालात रखते थे, लेकिन उनकी यह मनफ़ी फ़िक्र क़ाबिल-ए-अमल नहीं हो सकती थी। अपनी माद्दी ज़िंदगी (materialistic life) को बरक़रार रखने के लिए उन्हें उन्हीं क़ौमों से मिलकर काम करना था। दिली में वे इन क़ौमों के बारे में मनफ़ी ज़ेहन रखते हुए ज़ाहिरी ज़िंदगी में उन्हें उनके साथ समझौता करना पड़ा। इस तरह मुसलमान तारीख़ में पहली बार एक संगीन बुराई पैदा हुई यानी दिली तौर पर मनफ़ी राय रखते हुए अपने मामलात में उनके साथ समझौता करके अपनी माद्दी ज़िंदगी की तामीर करना। यह दोहरापन या डबल स्टैंडर्ड की सार्वजनिक हालत थी। इस क़िस्म का सार्वजनिक दोहरापन मुसलमानों की तारीख़ में इससे पहले कभी पेश नहीं आया।

इस बुराई से बचने का वाहिद तरीक़ा सिर्फ़ एक है और वह है दौर-ए-अव़्वल की तरफ़ फ़िक्री वापसी यानी दौर-ए-अव्वल की तरह दोबारा मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के दरम्यान दाई और मदऊ की मुसावात क़ायम करना। दाई और मदऊ की मुसावात ही इस्लाम के मुताबिक़ सही मुसावात है। इस मुसावात को दोबारा क़ायम करके मुसलमान मौजूदा दोहरेपन की बुराई से बच सकते हैं और इसी के साथ

उम्मत-ए-मुस्लिमा होने की हैसियत से वे अपनी उमूमी ज़िम्मेदारी को अदा कर सकते हैं यानी दावत इलल्लाह की ज़िम्मेदारी।

## आइडियोलॉजी ऑफ़ दावह

हदीस-ए-रसूल से मालूम होता है कि पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की कोई सुन्नत अमलन ज़िंदा न रहे और फिर कोई शख़्स उसे अपनी कोशिशों से ज़िंदा करे, तो इस अमल पर उसके लिए बहुत बड़ा अज्र है। मसलन एक हदीस के अल्फ़ाज़ ये हैं –

مَنْ أَحْيَا سُنَّتِي فَقَدْ أَحَبَّنِي، وَمَنْ أَحَبَّنِي كَانَ مَعِي فِي الْجَنَّةِ

“जिसने मेरी सुन्नत ज़िंदा की, यक़ीनन उसने मुझसे मुहब्बत की और जिसने मुझसे मुहब्बत की, वह मेरे साथ जन्नत में रहेगा।”
(अल-मोजम अल-औसत तबरानी, हदीस नं० 9439)

इस हदीस को सामने रखा जाए और ग़ौर किया जाए कि मौजूदा ज़माने में वह कौन-सी सुन्नत-ए-रसूल है, जो आज ज़िंदा नहीं है तो बिला-शुबह वह सिर्फ़ एक सुन्नत होगी और वह दावत इलल्लाह की सुन्नत है। मौजूदा ज़माने के मुसलमानों को देखिए तो उनके दरम्यान नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात जैसे दीनी आमाल बहुत बड़े पैमाने पर अंजाम दिए जा रहे हैं, लेकिन सिर्फ़ एक दावत इलल्लाह की सुन्नत है, जो आज अमलन ज़िंदा नहीं। इस मामले में मुसलमानों की बे-शऊरी का यह हाल है कि वे मिल्ली ख़िदमत या इस्लाह-उल-मुस्लिमीन का काम करेंगे और वे इसे दावत इलल्लाह का नाम दे देंगे।

मौजूदा ज़माने में मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के दरम्यान दाई और मदऊ के रिश्ते को ज़िंदा करना, इस मामले में सुन्नत-ए-रसूल को ज़िंदा करना है; लेकिन यह कोई सादा काम नहीं। यह बिला-शुबह एक

अज़ीमतरीन काम है। दावत की इस अहमियत की बिना पर क़ुरआन में इसे जिहाद-ए-कबीर (अल-फ़ुरक़ान, 25:52) कहा गया है।

मुसलमानों के दरम्यान दावत इलल्लाह की सुन्नत को हक़ीक़ी मायनों में ज़िंदा करने के लिए एक मुकम्मल दावह आइडियोलॉजी दरकार है। एक ऐसी आइडियोलॉजी, जो इस्लाम को जदीद इल्मी उसूल पर साबितशुदा बनाए, जो उन सवालात का इत्मीनान-बख़्श जवाब दे, जो इस्लाम के रास्ते में ज़ेहनी रुकावट बने हुए हैं।

दावत का काम एक ऐसे माहौल का तालिब है, जहाँ दाई और मदऊ के दरम्यान नफ़रत और तशद्दुद का मुकम्मल ख़ात्मा कर दिया गया हो। यह ख़ात्मा दूसरों की तरफ़ से कभी नहीं किया जाएगा। यह ख़ात्मा जब भी होगा, वह दाई गिरोह की तरफ़ से यकतरफ़ा तौर पर किया जाएगा, इसीलिए क़ुरआन में दावत का हुक्म देते हुए पैग़ंबर-ए-इस्लाम से फ़रमाया गया—

وَلِرَبِّكَ فَاصْبِرْ

“मदऊ की तरफ़ से तमाम ज़्यादतियों पर यकतरफ़ा सब्र करो और पूरी तरह मुस्बत अंदाज़ में दावत इलल्लाह का काम जारी रखो।” (अल-मुदस्सिर, 74:7)

मौजूदा ज़माने में बहुत से ऐसे नज़रियात सामने आए हैं, जो ब-ज़ाहिर इस्लाम की रिवायती सोच से टकराते हैं। इस ज़ाहिरी टकराव ने मौजूदा ज़माने के मुसलमानों को इन जदीद नज़रियात के बारे में मनफ़ी ज़ेहन में मुब्तला कर दिया है। ऐसी हालत में ज़रूरी है कि इन नज़रियात की तौजीह (explanation) की जाए, जो इस मामले में मुसलमानों के मनफ़ी ज़ेहन का ख़ात्मा कर सके, वरना दाई और मदऊ के दरम्यान वह नॉर्मल तअल्लुक़ात क़ायम नहीं होंगे, जो दावत के मुस्बत अमल के लिए ज़रूरी हैं। मसलन मौजूदा ज़माने में शत्म-ए-रसूल का मसला मुसलमानों के लिए एक हस्सास मसला बन गया

है। वे जब भी कोई ऐसी तहरीर पढ़ते हैं या तक़रीर सुनते हैं, जो उनके नज़दीक शत्म-ए-रसूल के हम-मायने हो, तो वे फ़ौरन भड़क जाते हैं और तशद्दुद अमल शुरू कर देते हैं। यह सूरत-ए-हाल निहायत संगीन तौर पर दावती अमल के रास्ते में रुकावट है।

इसका सबब यह है कि जदीद तहज़ीब के ज़ेर-ए-असर आज तमाम ग़ैर-मुसलमान क़ौमों में यह मान लिया गया है कि इज़्हार-ए-राय (freedom of expression) की आज़ादी कामिल मायनों में इंसान का एक हक़ है। किसी भी बहाने की बिना पर उसे रद्द नहीं किया जा सकता। ऐसे माहौल में मुसलमान जब ब-तौर-ए-ख़ुद शत्म-ए-रसूल— 'रसूलुल्लाह की तौहीन' के वाक़ये को लेकर हंगामा शुरू करते हैं और वह मीडिया के ज़रिये फ़ौरन लोगों के इल्म में आ जाता है, तो लोग यह तसव्वुर क़ायम कर लेते हैं कि इस्लाम आज़ादी-ए-राय के ख़िलाफ़ है। इस बिना पर इस्लाम इस क़ाबिल नहीं कि वह जदीद इंसान का मज़हब बन सके।

मैं ज़ाती तौर पर शत्म-ए-रसूल को एक ऐसा मामला समझता हूँ, जिस पर मुसलमान सिर्फ़ दो क़िस्म के रवैये का हक़ रखते हैं— या तो वे इससे एराज़ किनारा-कशी करते हुए ख़ामोश रहें या दलील की ज़बान में पुर-अम्न तौर पर वे उसका जवाब दें। इस मौज़ू पर मैंने 'शत्म-ए-रसूल का मसला' के नाम से एक मख़्सूस किताब लिखी है, जो 191 सफ़्हात पर मुश्तमिल है और 1997 में नई दिल्ली से शाए हो चुकी है।

मान लीजिए कि अगर कोई शख़्स यह समझता हो कि शत्म-ए-रसूल एक क़ाबिल-ए-क़त्ल मामला है और वह 'يُقتل' शरियत के मुताबिक़ क़त्ल— का केस है, तब भी उसे इस मामले में इज्तिहाद करना चाहिए। दावत इलल्लाह की मस्लहत का तक़ाज़ा है कि ऐसा शख़्स इस मामले को 'الضَّرُورَات تُبِيحُ الْمَحْظُورَاتِ —अलमुअफ़कात लल शातबी' (जिल्द 5, सफ़्हा 99) के ख़ाने में डाले और

क़ानून-ए-ज़रूरत के तहत इसे मौजूदा ज़माने में मुल्तवी (suspended) क़रार दे। ऐसा न करने की सूरत में मुसलमानों का मनफ़ी ज़ेहन ब-दस्तूर बाक़ी रहेगा और वे दावत जैसे मुस्बत अमल के लिए नाक़ाबिल (incompetent) क़रार पाएँगे।

ऊपर जिन मसाइल का बयान हुआ, वह सीधे तौर पर दावत इलल्लाह की तज्दीद (revival) से ताल्लुक़ रखते हैं। मौजूदा ज़माने में जो नए हालात पैदा हुए हैं, उनके रेफ़रेंस में दावत की अहमियत को दोबारा दरयाफ़्त करना है। नए हालात में जो नई रुकावटें पैदा हुई हैं, उनका इस तरह जवाब देना है, जो दावत के रास्ते को दोबारा खोलने वाला हो। मौजूदा ज़माने में दावत इलल्लाह की बात करना दरअस्ल उन्हीं सवालात को एड्रेस करने का नाम है। इससे कमतर दर्जे का कोई अमल मौजूदा ज़माने में दावत इलल्लाह के रास्ते को हमवार करने वाला नहीं।

इन मसाइल से नज़रअंदाज़ होकर अगर कोई काम किया जाए और अपनी तरफ़ से उसे दावत इलल्लाह का नाम दिया जाए, तो यह क़ुरआन  के अल्फ़ाज़ में—

يُحِبُّونَ أَنْ يُحْمَدُوا بِمَا لَمْ يَفْعَلُوا

“वे चाहते हैं कि जो काम इन्होंने नहीं किए, इस पर उनकी तारीफ़ हो” (3:188) के हम-मायने होगा यानी एक ऐसे काम का क्रेडिट लेना जिसे आदमी ने सिरे से अंजाम ही नहीं दिया।

## दावत इलल्लाह

दावत इलल्लाह तमाम पैग़ंबरों का मिशन था और ख़ुद पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का भी। दावत इलल्लाह का

मतलब है लोगों को अल्लाह के 'क्रिएशन प्लान' से आगाह करना। गोया दावत ख़ुदाई पैग़ाम को इंसानों तक पहुँचाने का एक अमल है। अंबिया के लिए 'इतमाम-ए-हुज्जत' का जो मेयार मुक़र्रर किया गया, वह सिर्फ़ यह था कि वे ख़ुदा के पैग़ाम को लोगों तक पहुँचा दें (अल-नहल, 16:35), चुनाँचे अंबिया ने अपनी क़ौम को 'क़ौल-ए-बलीग़' में ख़ुदा का पैग़ाम पहुँचाया। क़ौल-ए-बलीग़ से मुराद वह कलाम है, जो आदमी के ज़ेहन को एड्रेस करने वाला हो।

दुनिया के फ़ितरी क़ानून के मुताबिक़, मौजूदा दुनिया में इंसान दूसरों को सिर्फ़ बा-ख़बर कर सकता है। क़ुरआन में रसूलुल्लाह के हवाले से बताया गया है—

"तुम जिसे चाहो हिदायत नहीं दे सकते, बल्कि अल्लाह जिसे चाहता है हिदायत देता है।"

(अल-क़सस, 28:56)

इस आयत के तहत मुफ़स्सिर अन-नसफ़ी (वफ़ात : 710 हिजरी) लिखते हैं—

لا تقدرأن تدخل في الإسلام كل من أحببت أن يدخل فيه

"तुम क़ुदरत नहीं रखते हो कि तुम जिसे चाहो इस्लाम में दाख़िल कर लो।" (तफ़्सीर अन-नसफ़ी, जिल्द 2, सफ़्हा 649)

इसी हक़ीक़त को दूसरी सूरत में इन अलफ़ाज़ में बयान किया गया है—

"पस तुम याददिहानी करा दो, तुम बस याददिहानी कराने वाले हो। तुम उन पर दारोग़ा नहीं।" (88:21-22)

इन आयात के मुताबिक़ हमारी ज़िम्मेदारी यह नहीं है कि किसी इंसान को अपने दीन में ले आएँ और न ही उसे दावत की कामयाबी का मेयार बनाना चाहिए, बल्कि हमारी ज़िम्मेदारी यह है कि हम दूसरों तक ख़ुदा का पैग़ाम हिकमत से पहुँचा दें।

यही वजह है कि क़ुरआन में दावती अमल के लिए जो मुख़्तलिफ़ अल्फ़ाज़ इस्तेमाल हुए हैं, वे सब इत्तिला और आगाही के मायनों में हैं। मसलन صدع بالامر (अल-हिज्र,15:94) यानी हुक्म को खोलकर सुनाना। تبئين ذكر (अल-नहल,16:44) यानी नसीहत को बयान करना। ايذانِ وحی (अल-अंबिया, 21:109) यानी वह्य की इत्तिला देना। ابلاغ رسالة (अल-आराफ़, 7:79) यानी ख़ुदा का पैग़ाम पहुँचाना। قص آيات (अल-आराफ़, 7:35) यानी आयात को सुनाना। قرأتِ قرآن (अल-इस्रा, 17:106) यानी क़ुरआन को पढ़कर सुनाना। تلاوتِ كتاب (अल-अनकबूत, 29:51) यानी किताब को पढ़कर सुनाना। انذار و تبشير (सबा, 34:28) यानी ख़ुशख़बरी देना और आगाह करना। نداء للايمان (आले-इमरान, 3:193) यानी ईमान की पुकार लगाना। دعوت الى الاسلام (अस-सफ़्फ़, 61:7) यानी इस्लाम की दावत। تبليغ ما انزل الله (अल-माइदा, 5:67) यानी ख़ुदा के नाज़िलकर्दा पैग़ाम को पहुँचाना। تذكير بايام الله (इब्राहीम, 14:5) यानी अल्लाह के दिनों को याद दिलाना, वग़ैरह।

## औराक़-ए-हिक्मत— 1985 की डायरी

**6 नवंबर, 1985**

क़ुरआन में अहल-ए-जन्नत के बारे में आया है कि वे बा-इक़्तिदार बादशाह के पास सच्ची नशिस्तों (seat of truth) पर बैठे हुए होंगे—

فِي مَقْعَدِ صِدْقٍ عِنْدَ مَلِيكٍ مُقْتَدِرٍ

मौजूदा दुनिया में आदमी झूठी नशिस्तों पर बैठा हुआ है। आख़िरत में आदमी सच्ची नशिस्तों पर बैठाया जाएगा। मौजूदा दुनिया में हर आदमी फ़रेब और शोषण के ज़रिये ऊँची जगह पाए हुए है। यहाँ हमें

ऐसे लोगों के दरम्यान ज़िंदगी गुज़ारनी पड़ती है, जो अपने आपको इसका पाबंद नहीं समझते कि वे अपने इख़्तियार को सिर्फ़ इंसाफ़ के दायरे में इस्तेमाल करें।

आख़िरत का मामला इससे मुख़्तलिफ़ होगा। अल्लाह तआला को हर क़िस्म का कामिल इख़्तियार हासिल है, मगर उसने अपने आपको इसका पाबंद बना रखा है कि वह इंसाफ़ और रहमत ही के दायरे में अपने आला इख़्तियारात को इस्तेमाल करे। इस सिलसिले में क़ुरआन के मुतअल्लिक़ अल्फ़ाज़ ये हैं—

كَتَبَ عَلَى نَفْسِهِ الرَّحْمَةَ

"उसने अपने ऊपर रहमत लिख ली है।" (6:12)

इसी के साथ वह एक ऐसी हस्ती है, जो आलातरीन मेयारी ज़ौक़ रखता है। वह परफ़ेक्ट से कम पर कभी राज़ी नहीं होता। ऐसे शहंशाह के पड़ोस में जगह पाना किस क़दर ख़ुशियों से भरपूर और लज़ीज़ होगा, इसका अंदाज़ा नहीं किया जा सकता।

**7 नवंबर, 1985**

मौजूदा ज़माने के मुसलमानों की तक़रीरें सुनिए या उनकी तहरीरें पढ़िए तो वाज़ेह तौर पर मालूम होता है कि उनकी सोच तमामतर क़ौमी सोच है। वे ख़्वाह क़ौमी अल्फ़ाज़ बोल रहे हों या नज़रियाती अल्फ़ाज़, लेकिन उनकी बातों का गहराई के साथ तज्ज़िया कीजिए तो उसके अंदर से सिर्फ़ 'क़ौमी इस्लाम' बरामद होगा।

मुसलमानों की क़ौमियत और दूसरों की क़ौमियत में बस यह फ़र्क़ है कि दूसरे लोगों के पास अपने इज्तिमाई पहचान को बताने के लिए अगर क़ौम का लफ़्ज़ है तो मुसलमान 'ख़ैर-ए-उम्मत' का पुर-फ़ख़्र लफ़्ज़ पाए हुए हैं। दूसरे के पास अगर सिर्फ़ किताब है, तो

मुसलमानों के पास किताब-ए-कामिल है। दूसरों के पास अगर 'नबी' है तो मुसलमानों के पास अफ़ज़ल-उल-अंबिया। दूसरों के लिए जहन्नुम का ख़तरा हो सकता है, मगर मुसलमानों को यह ख़ुशक़िस्मती हासिल है कि उनके लिए जन्नत के शानदार महल पेशगी तौर पर रिज़र्व हो चुके हैं। आह! वे मुसलमान, जो अपने आपको दीन-ए-ख़ुदावंदी में न ढाल सके, अलबत्ता दीन-ए-ख़ुदावंदी को अपने आपमें ढाल लिया।

**8 नवंबर, 1985**

हादसा मौजूदा दुनिया में हर एक के साथ पेश आता है, मगर कोई हादसा, ख़्वाह वह कितना ही सख़्त हो, किसी आदमी को सिर्फ़ जुज़्वी तौर पर (partially) नुक़सान पहुँचाता है, वह उसे आख़िरी तौर पर तबाह नहीं करता।

हादसे के बाद जो लोग खोई हुई चीज़ का ग़म करें, वे सिर्फ़ अपनी बरबादी में इज़ाफ़ा करते हैं। जो लोग हादसा पेश आने के बाद बची हुई चीज़ पर अपनी सारी तवज्जोह लगा दें, वे नए सिरे से कामयाबी की मंज़िल पर पहुँच जाते हैं। आप खोने के बावजूद पा सकते हैं, ब-शर्त कि आप खोने के बावजूद पाने की जिद्द-ओ-जहद कर सकें।

**11 नवंबर, 1985**

एक हदीस-ए-रसूल इन अल्फ़ाज़ में आई है—

عَنْ سَخْبَرَةَ، قَالَ:قَالَ رَسُولُ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ:مَنْ أُعْطِيَ فَشَكَرَ، وابْتُلِيَ فَصَبَرَ، وَظَلَمَ فَاسْتَغْفَرَ، وَظُلِمَ فَغَفَرَ ـ ثُمَّ سَكَتَ ـ فَقَالُوا:يَا رَسُولَ اللهِ، مَالَهُ؟ قَالَ:أُولَئِكَ لَهُمُ الْأَمْنُ وَهُمْ مُهْتَدُونَ

"अब्दुल्लाह बिन शख़बरा कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— 'जिसे दिया गया, फिर उसने शुक्र किया और उसे आज़माया गया, फिर उसने सब्र किया और उस पर ज़ुल्म किया गया तो उसने माफ़ कर दिया।' इतना कहकर आप चुप हो गए।

लोगों ने कहा कि ऐ ख़ुदा के रसूल, ऐसे शख़्स के लिए क्या है? आपने कहा—

'उन्हीं लोगों के लिए अमन है और वही लोग हिदायतयाब हैं'।"

(अल-मोजम अल-कबीर अल-तबरानी, हदीस न० 6613)

عَنِ ابْنِ عَبَّاسٍ قَالَ قَالَ رَسُولُ اللَّهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّم مَنْ أُصِيبَ بِمُصِيبَةٍ بِمَالِهِ، أَوْ فِي نَفْسِهِ، وَكَتَمَهَا، وَلَمْ يَشْكُهَا إِلَى النَّاسِ، كَانَ حَقًّا عَلَى اللَّهِ أَنْ يَغْفِرَ لَهُ

"इब्ने-अब्बास रिवायत करते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— 'जिसके माल या उसकी जान में कोई मुसीबत पड़े, फिर वह इसे छुपा ले और लोगों से इसकी शिकायत न करे तो अल्लाह पर उसका हक़ है कि वह उसे बख़्श दे'।"

(अल-मोजम अल-औसत अल-तबरानी, हदीस न० 737)

**12 नवंबर, 1985**

अमरीका के तीसरे सदर थॉमस जेफ़रसन (1743-1826) का क़ौल है कि तमाम सिफ़ात में सबसे क़ीमती सिफ़त यह है कि जहाँ एक लफ़्ज़ बोलने से काम चल जाता हो, वहाँ आदमी कभी दो लफ़्ज़ इस्तेमाल न करे।

The most valuable of all talents is that of never using two words when one will do.

एक शख़्स बहुत लंबी-लंबी तक़रीरें करता था। उससे कहा गया कि तुम मुख़्तसर तक़रीर क्यों नहीं करते। उसने जवाब दिया— "मुख़्तसर तक़रीर करने के लिए मेरे पास वक़्त नहीं।"

लंबी तक़रीर करने वाला बस खड़ा होकर बोलना शुरू कर देता है, उसे कुछ सोचने की ज़रूरत नहीं; मगर जब मुख़्तसर वक़्त में पूरी बात

कहनी हो तो मुक़र्रिर को तक़रीर से पहले काफ़ी सोचना पड़ेगा। वह मुख़्तलिफ़ ख़्यालात और मालूमात को पहले अपने अंदर हज़्म करेगा। फिर एक सोची-समझी तैयारशुदा तक़रीर करेगा। ऐसी मुख़्तसर तक़रीर के लिए हमेशा लंबी तक़रीर से ज़्यादा वक़्त दरकार होता है।

**13 नवंबर, 1985**

शैतान की शैतानी से बचना मुम्किन है, मगर इंसान की शैतानी से बचना मुम्किन नहीं; क्योंकि शैतान सिर्फ़ बहकाता है, मगर इंसान अमली तौर पर आपके ऊपर हमलावर होता है। शैतान शोरग़ुल नहीं करता, जबकि इंसान लाउड स्पीकर लगाकर शोर करता है और आपके सुकून को दरहम-बरहम कर देता है। शैतान आपके असासा पर क़ब्ज़ा करने का इख़्तियार नहीं रखता, जबकि इंसान आपके असासा पर नाजायज़ क़ब्ज़ा करता है और आपको झगड़े और मुक़द्दमात में उलझाकर आपके सारे तामीरी मंसूबे को मलियामेट कर देता है। इब्लीस बे-सुल्तान (non-dominant) शैतान है, मगर इंसान वह शैतान है, जिसे वक़्ती तौर पर सुल्तानी (sovereignty) भी दे दी गई है।

**14 नवंबर, 1985**

दुनिया में आदमी को बहुत-सी चीज़ें हासिल हैं। उसका अपना वजूद, उसका घर और जायदाद, उसके दोस्त और रिश्तेदार और दूसरे अस्बाब और सामान वग़ैरह।

यह जो कुछ इंसान को मौजूदा दुनिया में हासिल है, उसके बारे में दो नुक़्ता-ए-नज़र हो सकते हैं— एक यह कि ये सब चीज़ें हमारी हैं, हम इनके मालिक हैं। दूसरा यह कि हम इनमें से किसी चीज़ के ख़ुद मालिक नहीं। हर चीज़ ख़ुदा की है। जो कुछ हमारे पास है, वह सामान-ए-इम्तिहान के तौर पर है, न कि सामान-ए-मिल्कियत के तौर पर।

पहला ज़ेहन ना-शुक्री का ज़ेहन है और दूसरा ज़ेहन शुक्रगुज़ारी का ज़ेहन। पहले ज़ेहन के तहत जो ज़िंदगी बनती है, उसका नाम कुफ़्र है और दूसरे ज़ेहन के तहत जो ज़िंदगी बनती है, उसका नाम इस्लाम है। पहले ज़ेहन के तहत ज़िंदगी गुज़ारने वाले के लिए जहन्नम है और दूसरे ज़ेहन के तहत ज़िंदगी गुज़ारने वाले के लिए जन्नत।

**15 नवंबर, 1985**

'ज़न' का मतलब होता है किसी के बारे में कोई ख़ास राय रखना, ज़ेहन में किसी के बारे में कोई इमेज बनाना, ख़्वाह वह अच्छा हो या बुरा।

To have a particular opinion about something or someone, to have a picture in the mind.

इंसान को अपने ख़ालिक़ के बारे में अच्छा गुमान रखना चाहिए। इस ताल्लुक से मुख़्तलिफ़ अहादीस में रहनुमाई की गई है। मसलन एक हदीस-ए-रसूल यह है—

عَنْ أَبِي هُرَيْرَةَ، عَنْ رَسُولِ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ أَنَّهُ قَالَ:قَالَ اللهُ عَزَّ وَجَلَّ:أَنَا عِنْدَ ظَنِّ عَبْدِي بِي، وَأَنَا مَعَهُ حَيْثُ يَذْكُرُنِي

"अबू-हुरैरा कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया— 'अल्लाह तआला फ़रमाते हैं कि मैं अपने बारे में बंदे के गुमान के पास हूँ और मैं उसके साथ होता हूँ, जब वह मुझे याद करता है'।"

(सहीह मुस्लिम, हदीस नं० 2675; मुस्नद अहमद, हदीस नं० 10782)

दूसरी रिवायतों में कुछ मुख़्तलिफ़ अल्फ़ाज़ आए हैं। चंद अल्फ़ाज़ ये हैं—

أَنَا عِنْدَ ظَنِّ عَبْدِي بِي، فَلْيَظُنَّ بِي مَا شَاءَ

"मैं अपने बारे में बंदे के गुमान के मुताबिक़ हूँ। पस वह जैसा चाहे मेरे बारे में गुमान करे।" (मुस्नद अहमद, हदीस नं० 16016)

أَنَا عِنْدَ ظَنِّ عَبْدِي بِي وَأَنَا مَعَهُ إِذَا دَعَانِي

"मैं अपने बारे में बंदे के गुमान के मुताबिक़ हूँ और मैं उसके साथ हूँ, जब वह मुझे पुकारे।" (सहीह मुस्लिम, हदीस नं० 2675)

أَنَا عِنْدَ ظَنِّ عَبْدِي بِي، إِنَّ ظَنَّ خَيْرًا فَخَيْرٌ، وَإِنَّ ظَنَّ شَرًّا فَشَرٌّ

"मैं अपने बारे में बंदे के गुमान के पास हूँ। अगर उसने अच्छा गुमान किया तो ख़ैर है और अगर उसने बुरा गुमान किया तो बुरा है।"
(अल-मोजम अल-औसत अल-तबरानी, हदीस नं० 401)

**16 नवंबर, 1985**

हज़रत बुरैदा असलमी कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने एक आदमी को यह दुआ करते हुए सुना—

اللَّهُمَّ إِنِّي أَسْأَلُكَ بِأَنِّي أَشْهَدُ أَنَّكَ أَنْتَ اللَّهُ لَا إِلَهَ إِلَّا أَنْتَ الأَحَدُ الصَّمَدُ، الَّذِي لَمْ يَلِدْ وَلَمْ يُولَدْ وَلَمْ يَكُنْ لَهُ كُفُوًا أَحَدٌ، قَالَ:فَقَالَ:وَالَّذِي نَفْسِي بِيَدِهِ لَقَدْ سَأَلَ اللَّهَ بِاسْمِهِ الأَعْظَمِ الَّذِي إِذَا دُعِيَ بِهِ أَجَابَ، وَإِذَا سُئِلَ بِهِ أَعْطَى

"ऐ अल्लाह! मैं तुझसे सवाल करता हूँ, क्योंकि मैं गवाही देता हूँ कि तू ही अल्लाह है, तेरे सिवा कोई माबूद नहीं, तू अकेला है, बे-नियाज़ है, न उसकी कोई औलाद है और न वह किसी की औलाद है और कोई उसके बराबर का नहीं।"

(सुनन अत-तिर्मिज़ी, हदीस नं० 3475)

यह सुनकर रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया कि इस आदमी ने अल्लाह का एक बहुत बड़ा नाम (इस्म-ए-आज़म) लेकर दुआ की है। यह नाम लेकर जब सवाल किया जाए तो वह पूरा किया जाता है और जो दुआ की जाए, वह क़ुबूल होती है।

इस हदीस के मुताबिक़ लोगों को तलाश हुई कि ख़ुदा का 'इस्म-ए-आज़म' क्या है। इस तलाश में बहुत-सी दूसरी रिवायतें भी मिलीं, जिनमें यही बात कही गई थी; मगर इन रिवायतों में दूसरे ऐसे नाम थे, जो इस हदीस में नहीं हैं। अलबत्ता लफ़्ज़ 'अल्लाह' तमाम रिवायतों में मुश्तरक (common) था। इससे यह नतीजा निकला कि अल्लाह ही इस्म-ए-आज़म है

أَنَّ لَفْظَ اللَّهِ مَذْكُورٌ فِي الْكُلِّ فَيُسْتَدَلُّ بِذَلِكَ عَلَى أَنَّهُ الِاسْمُ الْأَعْظَمُ

(तुहफ़ा-अल-अहवज़ी, जिल्द 9, सफ़्हा 313)

इस इस्तिंबात (inference) के मुताबिक़ लोग 'अल्लाह' को इस्म-ए-आज़म समझकर उसका विर्द करने लगे, मगर हदीस का यह मतलब नहीं। हदीस में लफ़्ज़ 'इस्म' सिफ़त के मायने में है। इससे मुराद कोई ख़ास लफ़्ज़ नहीं। इसका मतलब सिर्फ़ यह है कि जब आदमी अल्लाह की 'सिफ़ात-ए-आलिया' को दरयाफ़्त करता है और उसका इज़्हार करते हुए बेताबी के साथ ख़ुदा को पुकारता है, तो ऐसी पुकार ज़रूर क़ुबूलियत का दर्जा हासिल कर लेती है।

**18 नवंबर, 1985**

एक इंसान जब गाड़ी को चलाता है तो इसका नाम भी चलना है और अगर गाड़ी का इंजन चलाकर उसे छोड़ दें, तब भी वह दौड़ेगी और इसे भी चलना कहा जाएगा; मगर हक़ीक़त में चलना वही है, जबकि इंसान गाड़ी को चला रहा हो, क्योंकि इंसान गाड़ी को चलाने के साथ उसे रोकना भी जानता है। वह आगे बढ़ाने के साथ उसे मोड़ना भी जानता है, जबकि ड्राइवर के बग़ैर जो गाड़ी हो, वह सिर्फ़ सीधी दौड़ती रहेगी, यहाँ तक कि कहीं टकराकर ख़त्म हो जाएगी।

यही मामला ज़िंदगी के सफ़र का है। ज़िंदगी में कभी बोलना ज़रूरी होता है और कभी चुप रहना। कभी ज़रूरत होती है कि आगे बढ़ने के

बजाय पीछे की तरफ़ हट जाएँ। कभी ज़रूरी होता है कि अपनी शर्तों पर इसरार न किया जाए, बल्कि सामने वाले की शर्तों को मान लिया जाए।

ज़िंदा लोग बा-ड्राइवर गाड़ी की तरह हैं और मुर्दा लोग बे-ड्राइवर गाड़ी की तरह। इस दुनिया में सिर्फ़ ज़िंदा लोगों का सफ़र कामयाबी पर ख़त्म होता है। मुर्दा लोगों का अंजाम इसके सिवा और कुछ नहीं कि वे यकतरफ़ा तौर पर दौड़ते रहें, यहाँ तक कि किसी चट्टान से टकराकर ख़त्म हो जाएँ।

**19 नवंबर, 1985**

पैग़ंबर-ए-इस्लाम के हवाले से क़ुरआन में एक हुक्म इन अल्फ़ाज़ में आया है—

وَلَا تَطْرُدِ الَّذِينَ يَدْعُونَ رَبَّهُمْ بِالْغَدَاةِ وَالْعَشِيِّ يُرِيدُونَ وَجْهَهُ مَا عَلَيْكَ مِنْ حِسَابِهِمْ مِنْ شَيْءٍ وَمَا مِنْ حِسَابِكَ عَلَيْهِمْ مِنْ شَيْءٍ فَتَطْرُدَهُمْ فَتَكُونَ مِنَ الظَّالِمِينَ ـ وَكَذَلِكَ فَتَنَّا بَعْضَهُمْ بِبَعْضٍ لِيَقُولُوا أَهَؤُلَاءِ مَنَّ اللَّهُ عَلَيْهِمْ مِنْ بَيْنِنَا أَلَيْسَ اللَّهُ بِأَعْلَمَ بِالشَّاكِرِينَ

“और तुम उन लोगों को अपने से दूर न करो, जो सुब्ह-ओ-शाम अपने रब को पुकारते हैं, उसकी ख़ुशनूदी चाहते हैं। उनके हिसाब में से किसी चीज़ का बोझ तुम पर नहीं और तुम्हारे हिसाब में से किसी चीज़ का बोझ उन पर नहीं कि तुम उन्हें अपने से दूर करके बे-इंसाफ़ों में से हो जाओ और इस तरह हमने उनमें से एक को दूसरे से आज़माया है, ताकि वे कहें कि क्या यही वे लोग हैं, जिन पर हमारे दरम्यान अल्लाह का फ़ज़्ल हुआ है। क्या अल्लाह शुक्रगुज़ारों से ख़ूब वाक़िफ़ नहीं?” (6:52-53)

हक़ के हामिल अक्सर वे लोग होते हैं, जो ज़ाहिर के एतिबार से कोई ख़ास अहमियत नहीं रखते। ख़ालिस हक़ को इख़्तियार करते ही आदमी ‘नेशनल मेन स्ट्रीम’ से निकल जाता है। यह चीज़ भी उसे लोगों

की नज़र में ग़ैर-अहम बना देती है, मगर यह सूरत-ए-हाल बाक़ी रहेगी, यहाँ तक कि क़यामत आ जाए, क्योंकि इस दुनिया में यही असल इम्तिहान है कि आदमी ग़ैब को पहचाने। वह किसी सच्चाई लाने वाले इंसान को जौहर की सतह पर पहचाने, न कि महज़ ज़ाहिर की सतह पर।

**21 नवंबर, 1985**

क़ुरआन में मुख़्तलिफ़ मक़ाम पर बताया गया है कि इसराईली जब मिस्र में आबाद थे तो मिस्र का बादशाह उनके लड़कों को क़त्ल कर देता था और उनकी औरतों को ज़िंदा रखता था।

(देखिए— 2:49,7:141 , 14:6)

इन आयात में अल्फ़ाज़ बिलकुल आम हैं। ब-ज़ाहिर इनका मतलब यह निकलता है कि फ़िरऔन बनी-इसराईल के तमाम लड़कों को क़त्ल करवा दिया करता था; मगर ऐसा नहीं, क्योंकि अगर वह तमाम लड़कों को क़त्ल करता तो बनी-इसराईल की नस्ल ही मिट जाती। असल यह है कि फ़िरऔन बनी-इसराईल के ऊँचे और बा-असर ख़ानदान के लड़कों को क़त्ल करवाता था या ऐसे जवानों को क़त्ल करवा देता था, जिनके अंदर उसे क़ियादत की सलाहियत नज़र आती थी।

बनी-इसराईल चूँकि हज़रत यूसुफ़ के ज़माने में हुक्मराँ गिरोह की हैसियत रखते थे, इसलिए वह उनसे सियासी ख़तरा महसूस करता था। वह चाहता था कि बनी-इस्राईल के अंदर ऐसे आला अफ़राद न उभरें, जो दोबारा अपनी क़ौम को मुनज़्ज़म कर सकें।

अल्लाह तआला ने उमूमी अंदाज़ में इस फ़ेल की ग़ैर-मामूली शिद्दत ज़ाहिर करने के लिए मना फ़रमाया। यही दावत का उस्लूब है। जो लोग इस राज़ को न समझें, वे बहुत से गहरे मायनों को पाने से महरूम रह जाएँगे।

**22 नवंबर, 1985**

क़ुरआन में अहल-ए-जन्नत की सिफ़ात में से एक सिफ़त यह बयान हुई है कि वे उस दिन की मुसीबत से डरते हैं, जो हर तरफ़ फैल जाएगी। वे अल्लाह की मुहब्बत में मुहताज को, यतीम को और क़ैदी को खिलाते हैं। (और यह कहते हैं) कि हम जो तुम्हें खिलाते हैं तो सिर्फ़ अल्लाह की ख़ुशी चाहने के लिए खिलाते हैं। हम तुमसे न बदला चाहते हैं और न शुक्रगुज़ारी। हम अपने रब से एक ऐसे दिन के बारे में डरते हैं, जो बड़ी उदासी वाला और सख़्ती वाला होगा। (76:7-10)

इन आयात को पढ़कर एक साहब ने कहा कि ऐसे मौक़े पर ये अल्फ़ाज़ अरबी में कहने चाहिए या इन्हें अपनी ज़बान में भी कहा जा सकता है?

मैंने कहा कि आप इस आयत का मतलब नहीं समझे। इसका मतलब यह नहीं है कि जब किसी ज़रूरतमंद की मदद की जाए तो उस वक़्त ज़बान से ये अल्फ़ाज़ दोहराए जाते रहें। इससे मुराद अल्फ़ाज़ नहीं, बल्कि एहसासात हैं यानी जब किसी के साथ हुस्न-ए-सुलूक किया जाए तो आदमी के दिल में यह एहसास तारी होना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि वह इन अल्फ़ाज़ को याद कर ले और हर ऐसे मौक़े पर इन अल्फ़ाज़ को दोहरा दिया करे। कभी ज़बान से कुछ अल्फ़ाज़ भी निकल पड़ते हैं, मगर असलन यहाँ जिस चीज़ का ज़िक्र है, वह एहसासात हैं।

**23 नवंबर, 1985**

क़ुरआन में एक से ज़्यादा मक़ाम पर यह बात कही गई है कि क़ुरआन अरबी ज़बान में है—

بِلِسَانٍ عَرَبِيٍّ مُبِينٍ

(26:196)

इस क़िस्म की आयात के तहत यह बहस छिड़ गई कि इसका मतलब क्या है, क्योंकि क़ुरआन में बहुत से अल्फ़ाज़ ग़ैर-अरबी हैं। किसी ने कहा कि क़ुरआन में 27 अल्फ़ाज़ ग़ैर-अरबी हैं। किसी ने इनकी गिनती 60 तक पहुँचा दी। मसलन नीचे दिए गए अल्फ़ाज़—

سَلْسَبِيل،كَوْثَر، سِجِّيل، كَافُور، قَرَاطِيس، رَقّ، مِشْكَاة، سُرَادِق، سُنْدُس، إِسْتَبْرَق،قَسْوَرَة، فِرْدَوْس، تَنُّورُ، زَنْجَبِيل، عَبْقَرِيِّ वग़ैरह।

उलमा की बड़ी तादाद इस तरफ़ गई कि जब क़ुरआन का यह दावा है कि वह अरबी ज़बान में है, तो इसमें ग़ैर-अरबी अल्फ़ाज़ नहीं हो सकते। चुनाँचे मज़्कूरा क़िस्म के फ़ारसी, रूमी, हब्शी, नबती, हिंदी वग़ैरह अल्फ़ाज़ की मौजूदगी की अजीब-अजीब तावीलें की गईं। मसलन कहा गया कि ये अल्फ़ाज़ असलन अरबी ही के थे। कुछ दिनों के बाद वे अरबी ज़बान से पोशीदा हो गए। फिर क़ुरआन ने दोबारा उन्हें अरबी में दाख़िल किया।

ये सब ग़ैर-ज़रूरी तावीलात (interpretations) हैं। असल यह है कि हर ज़बान में दूसरी ज़बान के अल्फ़ाज़ शामिल होते रहते हैं। इसके बावजूद वह ज़बान वही रहती है। मसलन थॉमस पाइल्स (Thomas Pyles) की एक किताब है, जिसमें उसने अंग्रेज़ी ज़बान के आग़ाज़ और उसकी दर्जा-ब-दर्जा तरक़्क़ी पर बहस की है। इसका नाम है—

The Origins and Development of the English Language

इस किताब में उसने हिंदी, लातीनी, फ्रांसीसी, रूसी, जर्मन वग़ैरह ज़बान के बहुत से अल्फ़ाज़ की फ़ेहरिस्त दी है, जो अंग्रेज़ी में इस्तेमाल में हैं। वह लिखता है कि ये अल्फ़ाज़ अगरचे इब्तिदा में दूसरी ज़बानों के थे, मगर जब वे अंग्रेज़ी में शामिल हो गए तो वे अंग्रेज़ी हो गए और अंग्रेज़ी फिर भी अंग्रेज़ी रही।

But English remains English.

**25 नवंबर, 1985**

एक शायर का शेर है—

“अभी भूले नहीं हम ख़ालिद-ओ-तारिक़ के अफ़साने
फ़ुतूहात-ए-सलाहुद्दीन अभी रोशन है दुनिया में”

इस क़िस्म के अशआर और इस क़िस्म की तक़रीरों और तहरीरों से हमारी जदीद तारीख़ भरी हुई है। हर आदमी जो उठता है, वह यहीं से अपने कलाम का आग़ाज़ करता है कि हमने एक हज़ार बरस तक दुनिया पर हुकूमत की है। हमने रोम-ओ-ईरान की सल्तनतों के परख़चे उड़ा दिए। हमने हिंदुस्तान से लेकर फ्रांस तक इस्लामी इक़्तिदार का झंडा गाड़ दिया वग़ैरह-वग़ैरह।

मौजूदा ज़माने में तमाम दुनिया के मुसलमानों का ज़ेहन यही है। आज का हर शख़्स इस इस्लामी तारीख़ को बतौर इस्लाम जानता है, जिसने फ़तह-व-ग़लबा हासिल किया। कोई भी शख़्स नहीं, जो उस इस्लाम से वाक़िफ़ हो जिसने दुनिया की क़ौमों को दावत-ओ-रहमत का मुख़ातब बनाया, जिसने मक्का में हर क़िस्म के ज़ुल्म-ओ-सितम के बावजूद सब्र व एराज़ का तरीक़ा इख़्तियार किया, जो हुदैबिया के मौक़े पर पीछे हटने की पॉलिसी इख़्तियार करने पर राज़ी हो गया, जिसने ख़ाना-ए-काबा में सैकड़ों बुत देखे, मगर उसे बरदाश्त करता रहा, ताकि वह इंसानों को ख़ुदा से क़रीब कर सके।

यह सूरत-ए-हाल निहायत परेशानकुन है, क्योंकि इसका मतलब यह है कि मुसलमान गुज़री हुई तारीख़ में अटके हुए हैं, वे ज़िंदा ख़ुदा को पाने में नाकाम रहे। उनके पास हाल का कोई सरमाया नहीं, वे सिर्फ़ माज़ी की यादों के बल पर जी रहे हैं।

**26 नवंबर, 1985**

अल-मुंजिद एक मशहूर अरबी डिक्शनरी है। इसे एक ईसाई आलिम लुईस मालूफ़ (1867-1946) ने तैयार किया है। इसे

मौजूदा ज़माने में बेहद मक़बूलियत हासिल हुई, हत्ता कि वह अरबी मदारिस और इस्लामी इदारों में सबसे ज़्यादा इस्तेमाल होने वाली डिक्शनरी बन गई।

इस लुग़त में बहुत से मक़ामात पर ईसाई ज़ेहन की तर्जुमानी है। मसलन एक अरबी लफ़्ज़ 'अत-तुलाक़ा' है। यह तलक़ की जमा (plural) है। इसके मायने 'आज़ाद' के हैं। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़तह-ए-मक्का के बाद वहाँ के मुशरिकीन से फ़रमाया था—

اذْهَبُوا فَأَنْتُمْ الطُّلَقَاء

"जाओ, तुम सब आज़ाद हो।"

(सीरत इब्ने-हिशाम, जिल्द 2, सफ़्हा 412)

इसके बाद मक्का के लोगों ने इस्लाम क़ुबूल कर लिया, मगर अल-मुंजिद में अत-तलक़ा का मफ़हूम इन अल्फ़ाज़ में दिया गया है—

الذين اُدخلوا فى الاسلام کُرهاً

"वे लोग, जो इस्लाम में ज़बरदस्ती दाख़िल किए गए।"

ज़ाहिर है कि अत-तलक़ा का यह मफ़हूम उसके असल मफ़हूम का बिलकुल उल्टा है। इस तरह की और भी ग़लतियाँ अल-मुंजिद में पाई जाती हैं, मगर मुसलमानों ने मौजूदा ज़माने में अरबी का कोई ऐसी डिक्शनरी तैयार नहीं की, जो अल-मुंजिद की जगह ले सके। इसलिए इन ग़लतियों के बावजूद अमलन उसका रिवाज है। यही मामला मौजूदा ज़माने में डिक्शनरी के अलावा दूसरे उलूम का भी हुआ है।

**27 नवंबर, 1985**

हदीस में है—

مَاءُ زَمْزَمَ لِمَا شُرِبَ لَهُ

"ज़मज़म का पानी जिस मक़सद के लिए पिया जाए, वह पूरा होगा।" (सुनन इब्ने-माजा, हदीस नं० 3062)

दूसरी हदीस है—

لَا يجْتَمع مَاء زَمْزَم ونار جَهَنَّم فِي جَوف عبد أبدا

"ज़मज़म का पानी और दोज़ख़ की आग एक इंसान के पेट में कभी जमा नहीं हो सकते।" (मुसनद अल-फ़िरदौस, हदीस न० 7799)

इस बुनियाद पर फ़ुक़हा ने ज़मज़म के आदाब मुक़र्रर किए हैं। 'फ़तवा आलमगीरी' में है कि ज़मज़म का पानी ख़ुद अपने हाथ से निकाला जाए और क़िबल की जानिब रुख़ करके ख़ूब सेर होकर पिया जाए और हर साँस पर नज़र उठाकर बैतुल्लाह को देखे और बचा हुआ पानी अपने मुँह और जिस्म पर मल लिया जाए और हो सके तो कुछ अपने जिस्म पर भी डाल ले। मुसलमानों ने बाद के ज़माने में हर चीज़ को 'मसला' बना दिया, हत्ता कि ज़मज़म पीने को भी। 'मसाइल-ए-ज़मज़म' इससे भी ज़्यादा हैं, जितना ऊपर नक़ल हुए।

**28 नवंबर, 1985**

मौलाना अबुल आला मौदूदी की मशहूर किताब है, जिसका नाम 'पर्दा' है। जैसा कि नाम से ज़ाहिर है, यह किताब ख़वातीन के पर्दे के मसले पर है। 306 सफ़्हात की इस किताब को मुसन्निफ़ ने इन अल्फ़ाज़ पर ख़त्म किया है—

पस अगर अहवाल-ए-ज़माना (condition of times) ही पर फ़ैसले का इनहिसार है तो मैं कहता हूँ कि यहाँ के अहवाल पर्दे की तख़फ़ीफ़ (relaxation) के नहीं और ज़्यादा एहतिमाम के मुक़तज़ी हैं। इसमें तख़फ़ीफ़ करने से पहले आपको कम-अज़-कम इतनी क़ुव्वत पैदा करनी चाहिए कि अगर कोई मुसलमान औरत बे-नक़ाब हो तो

जहाँ उसे घूरने के लिए दो आँखें मौजूद हों, वहीं उन आँखों को निकाल लेने के लिए पचास हाथ भी मौजूद हों। (पर्दा, लाहौर, 2005)

अब देखिए कि इस तरह के मामले में पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का तरीक़ा क्या था। हदीस की किताबों में ‘हज्जत-उल-विदा’ के वाक़िआत के दरम्यान यह वाक़िआ भी नक़ल किया गया है—

كَانَ الْفَضْلُ بْنُ عَبَّاسٍ رَدِيفَ رَسُولِ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ، فَجَاءَتْهُ امْرَأَةٌ مِنْ خَثْعَمَ تَسْتَفْتِيهِ، فَجَعَلَ الْفَضْلُ يَنْظُرُ إِلَيْهَا وَتَنْظُرُ إِلَيْهِ، فَجَعَلَ رَسُولُ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ يَصْرِفُ وَجْهَ الْفَضْلِ إِلَى الشِّقِّ الْآخَرِ

“फ़ज़्ल बिन अब्बास रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के साथ ऊँट पर पीछे बैठे हुए थे। उस वक़्त रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास क़बीला ख़िसाम की एक औरत मसला पूछने के लिए आई। फ़ज़्ल उसकी तरफ़ देखने लगे और वह फ़ज़्ल की तरफ़ देखने लगी। तब रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम फ़ज़्ल का चेहरा दूसरी तरफ़ फेरने लगे। (सहीह मुस्लिम, हदीस नं० 1334)

पर्दे की मज़्कूरा इबारत में एक झुँझलाया हुआ इंसान बोल रहा है। जबकि मज़्कूरा हदीस में एक ऐसी अब्दी रूह की तर्जुमानी (interpretation) है, जो पॉज़िटिव थिंकिंग का सरमाया अपने अंदर लिये हुए हो।

**29 नवंबर, 1985**

हर शख़्स या हर क़ौम की ज़िंदगी में ऐसी कोई चीज़ होती है, जिसे वह सबसे ज़्यादा अहमियत देते हैं, हर दूसरी चीज़ उसके मातहत होती है। हर दूसरी चीज़ के बारे में अपने रवैये का फ़ैसला उसकी रोशनी में किया जाता है। मौजूदा ज़माने में तमाम क़ौमों का हाल यह है कि उनके

लिए उनका क़ौमी मफ़ाद सुप्रीम बना हुआ है। हर दूसरी चीज़ नीचे है और क़ौमी मफ़ाद हर चीज़ के ऊपर। यही मौजूदा ज़माने में मुसलमानों की हालत भी है। इन्होंने भी अपने क़ौमी मफ़ाद को अपनी ज़िंदगी में सबसे ऊँचा मक़ाम दे दिया है।

मुसलमान अगरचे इसके लिए इस्लामी इस्तिलाहात (technical terms) इस्तेमाल करते हैं। मसलन दूसरे लोग अगर क़ौमी मफ़ाद का लफ़्ज़ बोलते हैं तो मुसलमान मिल्ली मफ़ाद का लफ़्ज़ बोलते हैं। दूसरों के पास अगर क़ौमी ग़ैरत का लफ़्ज़ है तो मुसलमानों को इस्लामी हमिय्यत (sense of honour) और दीनी ग़ैरत का लफ़्ज़ मिला हुआ है। दूसरे लोग जिसे क़ौमी लड़ाई कहते हैं, उसे मुसलमानों ने 'मुक़द्दस जिहाद' का नाम दे रखा है।

मगर इससे असल वाक़ये में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इस्लामी अल्फ़ाज़ बोलने से मुसलमानों की क़ौमपरस्ती ख़ुदापरस्ती नहीं बन जाएगी। अहल-ए-ईमान के लिए जो चीज़ सबसे ज़्यादा अहम होनी चाहिए, वह दावत इलल्लाह है। हमारे तमाम मामलात को दावत की रोशनी में तय किया जाना चाहिए। दावती मस्लहत को हर दूसरी मस्लहत पर ग़ालिब होना चाहिए और दूसरी तमाम चीज़ों को इसके मातहत।

**2 दिसंबर, 1985**

एक साहब से गुफ़्तुगू हुई। गुफ़्तुगू का मौज़ू था कि मौजूदा ज़माने के मुसलमानों का दीन क्या है और सहाबा-ए-किराम का क्या था?

मैंने कहा कि एक लफ़्ज़ में हमारा और सहाबा-ए-किराम का फ़र्क़ यह है कि हम 'नफ़रत-ए-अक़्वाम' पर खड़े हुए हैं और सहाबा-ए-किराम 'मोहब्बत-ए-अक़्वाम' पर खड़े हुए थे। यही वह चीज़ है जिसने वह तमाम फ़र्क़ पैदा कर दिए हैं, जो हमारे और सहाबा के दरम्यान पाए जातें हैं।

**3 दिसंबर, 1985**

एक नौजवान ने गुफ़्तुगू के दौरान अपनी शादी का ज़िक्र किया। उन्होंने कहा कि मेरी शादी मेरे माँ-बाप ने कर दी, मगर मेरी जो बीवी है, वह मुझे पसंद नहीं।

मैंने कहा कि सबसे ज़्यादा पसंदीदा शादी वह है, जो ना-पसंदीदा शादी हो। मैंने कहा कि मेरे इस क़ौल को आप लिख लीजिए और इसे 20 बरस बाद देखिएगा, क्योंकि इन अल्फ़ाज़ की मानविय्यत को आप आज समझ नहीं सकते। इसकी मानविय्यत आपकी समझ में उस वक़्त आएगी, जबकि मेरी तरह आपके बाल सफ़ेद हो चुके होंगे।

**5 दिसंबर, 1985**

रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम एक बार हज़रत उम्म-ए-हानी के घर गए। पूछा कि कुछ खाने के लिए है। उन्होंने कहा कि सूखी रोटी का एक टुकड़ा और सिरका है—

كِسَرٌ يَابِسَةٌ وَخَلّ

आपने फ़रमाया जिस घर में सिरका हो, उसे सालन के मामले में ग़रीब नहीं कहा जा सकता—

فَمَا أَقْفَرَ بَيْتٌ مِنْ أُدْمٍ فِيهِ خَلٌّ

(सुनन अत-तिर्मिज़ी, हदीस नं० 1841)

उसके बाद आपने सिरका और रोटी निहायत शौक़ के साथ खाई।

इसी तरह मुख़्तलिफ़ रिवायतों में मुख़्तलिफ़ खानों के बारे में आपकी पसंद का ज़िक्र है, मसलन— सिरका, शहद, रौग़न-ए-ज़ैतून, हलवा, कद्दू, गोश्त, ककड़ी, लौकी, खिचड़ी, दूध, मक्खन, खजूर वग़ैरह।

इस सिलसिले में अहम सवाल यह है कि आपके पसंदीदा खानों की फ़ेहरिस्त में वे तमाम चीज़ें शामिल हैं, जो उस वक़्त के मदीना

में राइज थीं। अगर इस सिलसिले की मुख़्तलिफ़ रिवायतों को जमा किया जाए तो राइज खानों में से कोई भी चीज़ नहीं बचेगी, जो आपके पसंदीदा खाने की फ़ेहरिस्त में शामिल न हो।

फिर अगर आपको हर खाना पसंद था तो वह कौन-सा खाना है, जो आपको पसंद न था। हक़ीक़त यह है कि पसंदीदा और ना-पसंदीदा का मामला ही नहीं। आपके इस क़िस्म के तमाम कलिमात मेज़बानों की हौसला-अफ़ज़ाई के कलिमात हैं। उस वक़्त मदीना में खाने के सामान की कमी थी। अक्सर ऐसा होता कि जहाँ आप जाते, उसके यहाँ कोई एक सालन होता था। मेज़बान शर्मिंदगी के साथ जो खाना मौजूद हो, वह ले आता। आप शराफ़त के तक़ाज़े के तहत फ़रमाते कि यह तो बेहतरीन खाना है और फिर शौक़ से उसे खाने लगते। इस तरह के तमाम कलिमात मेज़बान की हौसला-अफ़ज़ाई के कलिमात हैं, न कि खाने के बारे में अपनी पसंद बताने के कलिमात।

**7 दिसंबर, 1985**

एक साहब के ख़त का जवाब देते हुए मैंने ये चंद लाइनें लिखीं— अल्लाह तआला के यहाँ असल क़ीमत कैफ़ियत (quality) की है, न कि कमिय्यत (quantity) की। ज़िंदगी के चंद लम्हात भी अगर अल्लाह के साये में गुज़र जाएँ तो इंशा अल्लाह, आख़िरत में भी अल्लाह का पड़ोस नसीब होगा और अल्लाह के पड़ोस ही का दूसरा नाम जन्नत है।

**9 दिसंबर, 1985**

‘अल-रिसाला’ में फ़िरक़ावाराना (communal) फ़साद के मसले पर जब तब्सिरा किया जाता है तो यकतरफ़ा तौर पर सिर्फ़ मुसलमानों की कोताही का ज़िक्र किया जाता है। इस पर एक साहब ने कहा कि यह अंदाज़ इंसाफ़ के ख़िलाफ़ है। आपको दोनों तरफ़ की ग़लतियाँ और कोताहियों को बताना चाहिए।

मैंने कहा कि ज़ाहिरी एतिबार से देखने में आपकी बात दुरुस्त मालूम होती है, मगर इस्लाह और तर्बियत के एतिबार से यह ग़ैर-मुफ़ीद, बल्कि नुक़सानदेह है। अगर हम यह कहें कि यह पचास फ़ीसद और पचास फ़ीसद का मामला है यानी आधी ग़लती एक फ़रीक़ की है और आधी ग़लती दूसरे फ़रीक़ की है, तो इस तरह फ़ोकस बदल जाएगा। मुसलमान पचास फ़ीसद या इससे कम ही अपनी कोताहियों पर अपना ध्यान जमा सकेंगे। इसलिए दाई और इस्लाह करने वाला यह करता है कि वह सिर्फ़ एक ही फ़रीक़ की कोताहियों को बयान करता है, ताकि फ़ोकस न बदले और उसकी सारी तवज्जोह अपने एहतिसाब और इस्लाह पर लग जाए।

क़ुरआन का तरीक़ा यही है। चुनाँचे वह फ़रीक़-ए-सानी की साज़िशों और ज़ुल्म का ज़िक्र छोड़कर सिर्फ़ मुसलमानों की कोताहियों पर उन्हें तवज्जोह दिलाता है, जिसकी एक मिसाल 'उहद' (3:155) और 'हुनैन' (9:25) के बारे में क़ुरआन का तब्सिरा है।

**10 दिसंबर, 1985**

जब भी कोई क़दम उठाया जाए तो हमेशा यह देखना चाहिए कि वह नतीजाख़ेज़ (result-oriented) है या नहीं। इक़्दाम हमेशा किसी नतीजे के लिए होता है, न कि महज़ इक़्दाम बराए-इक़्दाम।

बे-फ़ायदा काम न करना भी एक मुफ़ीद अमल है, क्योंकि इससे क़ुव्वतें महफ़ूज़ रहती हैं और इसका इम्कान बाक़ी रहता है कि वे किसी नतीजाख़ेज़ मंसूबे में इस्तेमाल हो सकें।

इंसान हमेशा कुछ करना चाहता है। जब तख़रीबी कार्वाइयाँ बंद होती हैं, उस वक़्त तामीरी सरगर्मियाँ शुरू हो जाती हैं। ग़लत इक़्दामात की तरफ़ दौड़ाने वाले लीडर अगर ख़ामोश बैठे रहें, तब भी वह एक फ़ायदा पहुँचाएँगे। वे क़ौम को ग़लत रुख़ पर न दौड़ाकर उसे मौक़ा देंगे

कि वह अपनी फ़ितरत के ज़ोर पर मुफ़ीद और सालेह रुख़ पर अपना सफ़र जारी कर सके।

**11 दिसंबर, 1985**

ख़ैरुद्दीन पाशा बारबरोसा (Hayreddin Barbarossa, b. 1466) समंदरी जहाज़ का बहुत बड़ा माहिर था और निहायत बहादुर आदमी था। उसे अमीर-उल-बहर (Admiral) कहा जाता था। सोलहवीं सदी ईस्वी में तुर्की की उस्मानी सल्तनत के समंदरी बेड़े को जो अज़्मत हासिल हुई, उसका असल हीरो यही शख़्स था। कहा जाता है कि ख़ैरुद्दीन बारबरोसा अपने ज़माने का सबसे बड़ा अमीर-उल-बहर था। उसकी महारत और बहादुराना कार्रवाइयों का नतीजा यह हुआ कि मशरिक़ से मग़रिब तक तुर्की बेड़े का राज क़ायम हो गया।

ख़ैरउद्दीन बारबरोसा ने तक़रीबन अस्सी साल की उम्र में जुलाई, 1546 में वफ़ात पाई। उसे बेसिक्तास (Besiktas) में दफ़न किया गया। उसकी क़ब्र पर जो तख़्ती लगी हुई है, उस पर ये अल्फ़ाज़ लिखे हुए हैं—

‘माता अमीर-उल-बहर
अमीर-उल-बहर मर गए’

वह शख़्स जो अमीर-ए-बहर था, उसका इंतिक़ाल हो गया। यह एक हक़ीक़त पर मबनी बयान है। यह चार सौ साल पहले मुसलमानों का हाल था। आज कोई मुसलमान मरे तो उसकी क़ब्र पर लिखने के लिए इस क़िस्म के हक़ीक़ी अल्फ़ाज़ किसी को नहीं मिलेंगे, बल्कि वह ग़ैर-हक़ीक़ी क़सीदा-ख़्वानी करेंगे और कहेंगे कि मसलन अमीर-ए-फ़ज़ा इस दुनिया से चला गया। अगरचे वह हक़ीक़त के एतिबार से वैसा न हो। कितना फ़र्क़ है मुसलमानों के हाल में और मुसलमानों के माज़ी में।

**12 दिसंबर, 1985**

उर्दू ज़बान एक लिटरेरी ज़बान की हैसियत से मुग़ल दौर में दिल्ली के आस-पास के इलाक़े में ज़ाहिर हुई। 1835 में जब फ़ारसी बतौर ऑफ़िशियल लैंग्वेज के ख़त्म हो गई तो उसके बाद उर्दू ने तेज़ी से तरक़्क़ी करना शुरू किया।

यह ज़माना इत्तिफ़ाक़ से वही है, जबकि दूसरी क़ौमों ने मुसलमानों से उनका फ़ख़्र छीना था और वे उनसे लड़ने-भिड़ने में मसरूफ़ थे। क़ुदरती तौर पर इस सूरत-ए-हाल का असर उर्दू ज़बान पर हुआ। उर्दू ज़बान 'टकराव' की ज़बान बन गई। यही वजह है कि उर्दू ज़बान में कनफ्रंटेशन (confrontation) के मफ़हूम को ज़ाहिर करने के लिए बेशुमार अल्फ़ाज़ हैं, मगर एडजस्टमेंट (adjustment) के मफ़हूम को बताने के लिए कोई एक भी ब-मायना लफ़्ज़ नहीं।

आदमी अल्फ़ाज़ के ज़रिये सोचता है। जिस ज़बान में सोचने के लिए एडजस्टमेंट के हम-मायने लफ़्ज़ ही न हों, वह क्यूँकर ज़्यादा सेहत के साथ एडजस्टमेंट की पॉलिसी पर ग़ौर कर सकता है। उर्दू स्पीकिंग कम्यूनिटी की यही बुनियादी कमज़ोरी है, जिसकी बिना पर वे हर जगह अपने पड़ोसियों से लड़ रहे हैं, ख़्वाह वह पड़ोसी मुसलमान हो या ग़ैर-मुसलमान।

**13 दिसंबर, 1985**

इस्लाम में ख़लीफ़ा के चुने जाने का कोई एक मुतअय्यन उसूल नहीं है। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम को हज़रत अबू बक्र की सिफ़ात का पूरा इल्म था, मगर आपने हज़रत अबू बक्र को सराहतन यानी साफ़ तौर पर ख़िलाफ़त के लिए नामज़द नहीं किया।

हज़रत अबू बक्र को उमर की सिफ़ात का इल्म था तो आपने उमर को ख़िलाफ़त के लिए नामज़द कर दिया और इस मामले में

ख़ामोशी इख़्तियार नहीं की। इसके बाद उमर आए तो उन्होंने तीसरा तरीक़ा इख़्तियार किया। उन्होंने अपने आख़िर वक़्त में छः आदमियों की एक कमेटी बना दी और उससे कहा कि तुम लोग मेरे बाद किसी को ख़लीफ़ा बनाकर उसके नाम का ऐलान कर देना।

इससे अंदाज़ा होता है कि इन मामलात में कोई एक ही मुक़र्रर और मुतअय्यन तरीक़ा नहीं है। असल चीज़ मस्लहत-ए-इस्लाम है, न कि कोई मुतअय्यन ढाँचा।

**14 दिसंबर, 1985**

लोग इक़्तिदार छिन जाने के बाद मुतवाज़े आजिज़ (modest) बन जाते हैं। हालाँकि मुतवाज़े आजिज़ वह है, जो इक़्तिदार की कुर्सी पर हो, फिर भी मुतवाज़े आजिज़ बना रहे। अख़्लाक़ वह है, जो इक़्तिदार पाने के बाद ज़ाहिर हो, न कि इक़्तिदार छिनने के बाद।

**16 दिसंबर, 1985**

रुडयार्ड किपलिंग (Rudyard J. Kipling) मशहूर अंग्रेज़ी शाइर और नॉवेल-निगार है। वह 1865 में पैदा हुए और 1936 में उनकी वफ़ात हुई।

किपलिंग उन लोगों में थे, जो जदीद मग़रिबी तहज़ीब (Modern Western Civilization) को तारीख़ की आख़िरी बुलंदी समझते थे। किपलिंग के नज़दीक यूरोप और अमेरिका के तरक़्क़ीयाफ़्ता गोरों की ज़िम्मेदारी थी कि वह बक़िया दुनिया को तहज़ीब की यह नेअमत पहुँचाए। नौ-आबादियाती निज़ाम (Colonial system) उसके नज़दीक इसी कोशिश की एक सूरत थी। उसकी एक मशहूर नज़्म है, जिसमें उन्होंने अपने इस नज़रिये को गोरों का बोझ (White Men Burden) से ताबीर किया था—

Take up the White Men burden,
Send forth the best ye breed,
Go bind your sons to exile,
To serve your captives need.

जब भी कोई क़ौम तरक़्क़ी के दर्जे पर पहुँचती है तो वह दूसरी अक़्वाम पर ग़लबा हासिल करने के लिए इसी क़िस्म के नज़रियात ईजाद करती है। मेरे नज़दीक मुसलमानों में इस्लामी ख़िलाफ़त का तसव्वुर भी इसी क़िस्म के ज़ेहन की पैदावार है। यह नज़रिया कि इंसान दुनिया में ख़ुदा का ख़लीफ़ा है, क़ुरआन-ओ-सुन्नत में कहीं कोई ज़िक्र नहीं और न सहाबा के ज़माने में इस नज़रिये का सबूत मिलता है। यह नज़रिया दरअस्ल अब्बासी दौर में पैदा हुआ और इसका तसव्वुर यह था कि सारी दुनिया में अपना ग़लबा क़ायम करने के लिए फ़िक्री जवाज़ (ideological justification) फ़राहम किया जाए।

मेरे नज़दीक मुसलमान ख़ुदा के ख़लीफ़ा नहीं, बल्कि वे ख़ुदा के पैग़ाम को पहुँचाने वाले हैं। उन्हें इस तालीम को तमाम इंसानों तक उसकी क़ाबिल-ए-फ़हम ज़बान (understandable language) में पहुँचाना है, जो क़ुरआन-ओ-सुन्नत की सूरत में उनके पास महफ़ूज़ है।

**17 दिसंबर, 1985**

मुस्तश्रिक़ीन (Orientalists) ने जो किताबें लिखी हैं, उनमें से एक तरह की किताबें वह हैं, जो 'इस्लामी क़ौमों के मुताले पर लिखी गई हैं। इन किताबों में दलील पेश करने का तरीक़ा बड़ा अजीब-ओ-ग़रीब होता है। उनमें बाज़ ग़ैर-मुताल्लिक़ वाक़िआत को लेकर दिखाया गया है कि बाज़ क़ौमों, मसलन अल-जज़ायर के मुसलमानों का इस्लाम जानवरपरस्ती, दरख़्तपरस्ती और सितारापरस्ती से क़रीब है, हत्ता कि इस्लाम और बुतपरस्ती में कोई क़ाबिल-ए-ज़िक्र फ़र्क़ नहीं, बल्कि इस्लाम बुतपरस्ती ही का ततिम्मा (postscript) है।

इन मुस्तश्रिक़ीन की अकसरियत अरबी ज़बान से बराए-नाम वाक़िफ़ थी। इसलिए उन्होंने इस्लाम को समझने में निहायत अहमक़ाना क़िस्म की ग़लतियाँ की हैं। ताहम ख़ुद मुस्तश्रिक़ीन के हल्क़े में से गहरा इल्म रखने वाले लोगों ने इन बातों की तरदीद की है।

प्रोफ़ेसर अलान (Alain Daniélou) ने इस कमी को महसूस किया। इन्होंने उन मुस्तश्रिक़ीन का मज़ाक़ उड़ाते हुए लिखा है कि अगर मैं अपने क़लम को मुख़ातिब करके यह कहूँ कि ऐ मेरे महबूब क़लम, और इस जुमले को सोशियोलॉजी के माहेरीन अपनी तहक़ीक़ में शामिल कर लें तो वे इस जुमले को रूहानियत से मंसूब कर देंगे और यह कहेंगे कि मैंने अपने क़लम में एक छोटा देवता देख लिया था।

**18 दिसंबर, 1985**

इस मुल्क में अरबी और फ़ारसी को क्लासिकल ज़बान की हैसियत हासिल है। हुकूमत इनकी तरक़्क़ी पर काफ़ी रक़म ख़र्च करती है। यहाँ की तक़रीबन 20 यूनिवर्सिटियों में अरबी का शोबा मौजूद है। ऐसे कॉलेजों की तादाद दर्जनों तक पहुँचती है, जहाँ अरबी तालीम का इंतिज़ाम है। इसके इलावा यहाँ बहुत बड़े-बड़े दारुल उलूम क़ायम हैं। उनकी तादाद सौ से भी ज़्यादा है। वे कामिल आज़ादी के साथ अरबी ज़बान और दीनी उलूम की इशाअत का काम कर रहे हैं। हुकूमत के ख़र्च पर एक अरबी माहनामा शाए होता है। रेडियो में अरबी का पूरा यूनिट क़ायम है। यहाँ की वज़ारत-ए-तालीम (ministry of education) अरबी मदारिस को माक़ूल इमदाद देती है। इन मदारिस में रहकर कोई शख़्स किसी अरबी मख़्तूता को एडिट करना चाहे या किसी अरबी मौज़ू पर रिसर्च करना चाहे तो उसे तीन सौ रुपया माहवार का वज़ीफ़ा दो साल तक दिया जाता है। अरबी और फ़ारसी के दो-दो नामवर आलिमों को हुकूमत हर साल अवॉर्ड देती है।

ऊपर की इबारत एक इक़्तिबास (हवाला) है। ये बातें अगर यूरोप के किसी मुल्क के बारे में कही जाएँ तो मुसलमानों को बहुत अहम मालूम होंगी, मगर मुसलमानों को ये बातें उस वक़्त बे-वक़त (valueless) मालूम होने लगती हैं, जब उन्हें बताया जाए कि यह हिंदुस्तान की बात है।

इसकी वजह यह है कि मुसलमान जब यूरोप या अमेरिका जाता है तो वहाँ वह बिलकुल बिना किसी टकराव के रहता है। यही वजह है कि वह वहाँ के मवाक़े से फ़ायदा उठा पाता है और इसकी अहमियत को समझ लेता है, मगर हिंदुस्तान में मुसलमान शिकायत और एहतिजाज के ज़ेहन के साथ रहते हैं। इसलिए यहाँ उन्हें तरह-तरह की मुश्किलों से सामना पेश आता है। वे हिंदुस्तान के मवाक़े की क़दर करने में नाकाम साबित होते हैं।

**19 दिसंबर, 1985**

क़ुरआन में आया है—

كَتَبَ عَلَى نَفْسِهِ الرَّحْمَةَ

“अल्लाह ने अपने ऊपर रहमत को लिख रखा है।” (6:12)

मौजूदा दुनिया में इंसान के पास इक़्तिदार है मगर उसने अपने आपको रहमत और अद्ल का पाबंद नहीं किया है, इसलिए मौजूदा दुनिया फ़साद और ख़राबियों से भर गई है, मगर आख़िरत में सारा इक़्तिदार सिर्फ़ एक अल्लाह के पास होगा और अल्लाह ने हर क़िस्म का कामिल इख़्तियार रखने के बावजूद अपने आपको रहमत और अद्ल का पाबंद कर रखा है। इसलिए आख़िरत की दुनिया सरापा ख़ैर होगी। वहाँ सिर्फ़ वही होगा, जो हक़ के एतिबार से होना चाहिए और वह न हो सकेगा, जो हक़ के एतिबार से दुरुस्त न हो। आख़िरत की यह ख़ुसूसियत आख़िरत को एक मेयारी दुनिया बना देगी। इसी मेयारी दुनिया का दूसरा नाम जन्नत है।

**21 दिसंबर, 1985**

हर बात को समझने के लिए अक़्ल की ज़रूरत है। अगर अक़्ल को इस्तेमाल न किया जाए तो कोई बात भी समझ में नहीं आ सकती, हत्ता कि क़ुरआन व हदीस की बात भी नहीं। मसलन हदीस में आया है—

قَالَ رَسُولُ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ
هَلَكَ الْمُتَنَطِّعُونَ قَالَهَا ثَلَاثًا

"तशद्दुद करने वाले हलाक हो गए। यह बात तीन बार फ़रमाई।"
(सहीह मुस्लिम, हदीस न० 2670)

अगर इन अल्फ़ाज़ को सादा तौर पर बिलकुल ज़ाहिरी मायने में ले लिया जाए तो इसका मतलब यह बनता है कि हर चीज़ जिसमें शिद्दत का पहलू हो, वह हलाकत का सबब है, इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए। मसलन गर्मी के मौसम में रोज़ा रखना। महँगाई के वक़्त जानवर की क़ुर्बानी देना वग़ैरह, मगर हदीस का यह मतलब नहीं।

हक़ीक़त यह है कि इस हदीस को सही तौर पर समझने के लिए इसमें एक लफ़्ज़ का इज़ाफ़ा करना होगा यानी उसे इस तरह कहना होगा—

(هَلَكَ الْمُتَنَطِّعُونَ) ای المتشددون فی غیر موضع التشدید

"वे लोग हलाक हो गए, जो तशद्दुद न करने की जगह पर तशद्दुद करते हों।"

**23 दिसंबर, 1985**

पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के ज़माने का एक वाक़िआ इन अल्फ़ाज़ में आया है—

جَاءَ أَخُوهُ عَبْدُ الرَّحْمَنِ بْنُ سَهْلٍ وَابْنَا عَمِّهِ حُوَيِّصَةُ وَمُحَيِّصَةُ
فَأَتَوُا النَّبِيَّ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ فَتَكَلَّمَ عَبْدُ الرَّحْمَنِ فِي أَمْرِ أَخِيهِ

وَهُوَ أَصْغَرُهُمْ فَقَالَ رَسُولُ اللَّهِ
صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ الْكُبْرَ الْكُبْرَ

“कुछ भाई रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास हाज़िर हुए, तो उनके छोटे ने बोलना शुरू किया। आपने फ़रमाया अपने बड़े को बोलने दो, अपने बड़े को बोलने दो।”

(सुनन अबू दाऊद, हदीस नं० 4520)

यह सिर्फ़ अदब की बात नहीं, बल्कि हिक्मत की बात है। जो शख़्स उम्र में ज़्यादा हो, उसका इल्म और तजुर्बा भी ज़्यादा होगा। वह दूसरों से ज़्यादा संजीदा होगा। ऐसी हालत में छोटों को जानना चाहिए कि उनके बड़े ज़्यादा मुस्तहिक़ हैं कि वह बोलें। यह एक अहम उसूल है जिसका ताल्लुक़ एक ख़ानदान के अफ़राद से भी है और पूरी क़ौम से भी।

**24 दिसंबर, 1985**

पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की तरफ़ मंसूब एक क़ौल यह है—

مَا أَكْرَمَ شَابٌّ شَيْخًا لِسِنِّهِ إِلاَّ قَيَّضَ اللَّهُ لَهُ مَنْ يُكْرِمُهُ عِنْدَ سِنِّهِ

“जो नौजवान किसी बूढ़े की उसके बुढ़ापे के वक़्त इज़्ज़त करता है तो अल्लाह उसके लिए ऐसे शख़्स को मुक़द्दर कर देता है, जो उसके बुढ़ापे की उम्र में उसकी इज़्ज़त करे।”

(सुनन अत-तिर्मिज़ी, हदीस न० 2022)

असल यह है कि हर शख़्स अपने अमल से समाज के अंदर रिवायत (tradition) क़ायम करता है। अगर लोग अपने बूढ़ों की इज़्ज़त न करें तो माहौल में बूढ़ों की बे-इज़्ज़ती की रिवायत क़ायम होगी। इसके बरअक्स अगर लोग अपने बूढ़ों की इज़्ज़त करें तो इससे

माहौल में बूढ़ों की इज़्ज़त करने की रिवायत क़ायम होगी। जिस तरह आदमी अपनी बोई हुई फ़सल को काटता है, उसी तरह लोग अपने माहौल में जिस क़िस्म की रिवायत क़ायम करें, उसका एक हिस्सा उन्हें ख़ुद भी बहरहाल भुगतना पड़ता है।

**25 दिसंबर, 1985**

पैग़ंबर-ए-इस्लाम सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की तरफ़ मंसूब एक रिवायत इन अल्फ़ाज़ में आई है—

مَا أَكْرَمَ النِّساءَ إِلَّا كَرِيمٌ وَلَا أهانَهُنَّ إلاَّ لَئِيمٌ

“औरत की इज़्ज़त वही करता है, जो शरीफ़ हो और औरत की बे-इज़्ज़ती वही करता है, जो घटिया हो।”

इंसान की शराफ़त का मेयार वह सुलूक नहीं है, जो वह ताक़तवर के साथ करता है, बल्कि शराफ़त का मेयार वह सुलूक है, जो वह कमज़ोर के साथ करता है। औरत चूँकि कमज़ोर मख़्लूक़ है, इसलिए अक्सर हालात में वह किसी के शरीफ़ या ग़ैर-शरीफ़ होने का पैमाना बन जाती है।” (तारीख़ दिमश्क़, इब्न-असाकिर, जिल्द 13, सफ़्हा 313)

**26 दिसंबर, 1985**

तनक़ीद की दो किस्में हैं। एक है दलील की बुनियाद पर तनक़ीद और दूसरी बे-दलील इल्ज़ाम। दलील की बुनियाद पर तनक़ीद का हक़ हर शख़्स को है, मगर बे-दलील इल्ज़ाम का हक़ किसी को नहीं।

एक शख़्स अगर किसी के ख़िलाफ़ बे-दलील इल्ज़ाम लगाए तो वज़ाहत के बाद उसे खुले तौर पर अपनी ग़लती का एतिराफ़ कर लेना चाहिए। बे-दलील इल्ज़ाम लगाना अगर ग़लती है, तो वज़ाहत के बाद अपनी ग़लती का एतिराफ़ न करना ग़लती पर सरकशी का इज़ाफ़ा है और सरकशी अल्लाह तआला के यहाँ नाक़ाबिल-ए-माफ़ी जुर्म है।

**27 दिसंबर, 1985**

सैमुअल गोल्डविन (1879-1974) अमेरिका का मशहूर फ़िल्म प्रोड्यूसर है। उसकी कंपनी 'पैरामाउंट पिक्चर्स कॉर्पोरेशन' को 1960 में 13 करोड़ 10 लाख डॉलर से भी ज़्यादा का मुनाफ़ा हुआ।

1913 में उसने अपने दो पार्टनर्स के साथ अपनी पहली फ़िल्म 'द स्क्वॉव मैन' (The Squaw Man) बनाई। उसके पास अपने मुलाज़िमों को मज़दूरी अदा करने के लिए काफ़ी रक़म न थी। सैमुअल गोल्डविन और उसके साथियों को जब माली कमी ने बहुत ज़्यादा परेशान किया तो उन्होंने तय किया कि उनकी फ़िल्म के लीडिंग एक्टर डस्टिन फ़र्नम (1874-1929) को इस पर राज़ी किया जाए कि वह अपनी एक्टिंग की उजरत लेने के बजाय कंपनी में हिस्सेदार बनने पर राज़ी हो जाए।

गोल्डविन यह सोचकर डस्टिन फ़र्नम के पास गया, मगर जैसे ही उन्होंने अपनी तज्वीज़ पेश की, उसने फ़ौरन मुतालबा किया कि पूरी मुद्दत-ए-अमल के लिए मेरी तमाम तनख़्वाह पेशगी अदा कर दी जाए, वरना मैं इस कंपनी में काम नहीं करूँगा। एक्टर की यह रक़म कुल पाँच हज़ार डॉलर होती थी, जो कि कंपनी के उस वक़्त के कुल सरमाया का 25 फ़ीसद थी।

अगर डस्टिन फ़र्नम को मालूम होता है कि पाँच हज़ार डॉलर की क़ुर्बानी उसे एक ऐसे कारोबारी इदारे में 25 फ़ीसद के ब-क़द्र हिस्सेदार बना देगी, जिसकी आमदनी आधी सदी के बाद चौदह करोड़ डॉलर सालाना हो जाएगी, तो यक़ीनन वह उजरत माँगने के बजाय मज़्कूरा पेशकश को ब-ख़ुशी क़ुबूल कर लेता, मगर इंसान मुस्तक़बिल को नहीं जानता, इसलिए वह इतने दूर-अंदेशी के फ़ैसले भी नहीं कर सकता।

**28 दिसंबर, 1985**

हर लफ़्ज़ का एक इब्तिदाई मफ़हूम होता है, मगर इस्तेमाल से इसमें वुसअत या फ़र्क़ पैदा होता रहता है। यह हर ज़माने में होता है।

मसलन अरबी का एक लफ़्ज़ 'फ़त्ह' है। यह लफ़्ज़ जब चीज़ों के लिए बोला जाए तो उसके मायने सादा तौर पर सिर्फ़ खुलने के होंगे। मसलन फ़त्ह-उल-बाब (दरवाज़ा खोला), मगर जब यह लफ़्ज़ हैवानात के लिए बोला जाए तो मायने में फ़र्क़ पैदा हो जाएगा। अब उसके मायने सिर्फ़ खुलने के नहीं होंगे, बल्कि खुलकर अचानक निकल पड़ने के होंगे। मसलन टिड्डियों का दल किसी गोशे से निकल पड़े तो कहेंगे— फ़तहत अल-जराद।

अल्फ़ाज़ में इस्तेमाल के एतिबार से जो वुसअत पैदा हुई है, उसे जो लोग न जानें, वे किसी इबारत को समझने में अजीब-अजीब ग़लतियाँ कर सकते हैं।

**30 दिसंबर, 1985**

मुसलमानों का एक पंद्रह रोज़ा अख़बार निकलता है जिसका नाम है— 'निदा-ए-दारुल उलूम'। उसके सफ़्हा-ए-अव्वल पर यह फ़िक़रा लिखा हुआ होता है—

मसलक-ए-अकाबिर का तर्जुमान

यह ऐन वही चीज़ है, जिसे क़ुरआन में कहा गया है—

اتَّخَذُوا أَحْبَارَهُمْ وَرُهْبَانَهُمْ أَرْبَابًا مِنْ دُونِ اللَّهِ

"उन्होंने अल्लाह के सिवा अपने उलमा और बुज़ुर्गों को रब बना डाला।" (9:31)

कोई शख़्स ऐसा अख़बार नहीं निकालता जिसके ऊपर यह लिखा हुआ हो कि 'मसलक-ए-सहाबा' का तर्जुमान, हत्ता कि यह जुमला

अगर किसी से कहा जाए तो उसे यह अजनबी मालूम होगा। अलबत्ता वे इस क़िस्म के अल्फ़ाज़ बोलने में फ़ख़्र महसूस करते हैं कि 'मसलक-ए-अकाबिर का तर्जुमान' ।

अकाबिरपरस्ती के इस मर्ज़ में वे लोग भी मुब्तला हैं, जो ब-ज़ाहिर अकाबिर का नाम नहीं लेते, मसलन 'जमात-ए-इस्लामी' की मैगज़ीन पर लिखा होता है—

इक़ामत-ए-दीन का नक़ीब व दाई

मगर अमलन उसके मायने होते हैं इक़ामत-ए-दीन (हस्ब-ए-तशरीह अबुल आला मौदूदी) का नक़ीब, न कि उस सादा मायनों में, जैसा कि वह क़ुरआन में है।

इस ज़माने में हर तरफ़ इस्लाम की धूम है, मगर लोगों के दरम्यान जिस इस्लाम की धूम है, वह उनका ख़ुदसाख़्ता इस्लाम है, न कि वह इस्लाम, जो अल्लाह ने अपने रसूल पर उतारा था।

**31 दिसंबर, 1985**

क़ुरआन में हज़रत यूसुफ़ अलैहिस्सलाम की मिसाल मौजूद है कि उन्होंने मिस्र के ग़ैर-मुसलमान बादशाह के क़ानून के तहत ग़िज़ाई इंतिज़ाम का इख़्तियार सँभाल लिया (12:55)। इसी तरह तौरात में दानियाल नबी के मुताल्लिक़ ज़िक्र है कि वह बाबुल के ग़ैर-मुसलमान बादशाह की वुज़रा (ministry) में दाख़िल हो गए थे। (दानियाल,1:19)

इससे अंदाज़ा होता है कि बाज़ मुसलमान मुफ़क्किरीन (thinkers) का यह नज़रिया सरासर ग़लत है कि ताग़ूती निज़ाम (मुशरिकीन के निज़ाम) में मुसलमान की शिरकत नाजायज़ है। इस क़िस्म के नज़रियात दरअस्ल ग़ैर-मुसलमान क़ौमों से नफ़रत के नतीजे में पैदा हुए हैं। वे ख़ुद इस्लाम की तालीमात से नहीं लिये गए हैं। ये नज़रियात इब्तिदा

में ग़ैर-मुसलमान हुक्मरानों से नफ़रत के नतीजे में पैदा हुए और उसके बाद जायज़ ठहराने के लिए उन्हें इस्लामी इस्तिलाहात में बयान किया जाने लगा।

## एक सवाल

एक हदीस है—

عَنْ أَبِي سَعِيدٍ الخُدْرِيِّ رَضِيَ اللَّهُ عَنْهُ، أَنَّهُ قَالَ قَالَ رَسُولُ اللَّهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ يُوشِكُ أَنْ يَكُونَ خَيْرَ مَالِ المُسْلِمِ غَنَمٌ يَتْبَعُ بِهَا شَعَفَ الجِبَالِ وَمَوَاقِعَ القَطْرِ، يَفِرُّ بِدِينِهِ مِنَ الفِتَنِ

"अबू सईद ख़ुदरी रिवायत करते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा—

'वह वक़्त क़रीब है, जबकि मुसलमान का उम्दा माल बकरियाँ होंगी, जिनके पीछे वह पहाड़ों की चोटियों और बरसाती वादियों में चला जाएगा। वह अपने दीन को फ़ित्ने से बचाने के लिए भाग जाएगा'।"

(सही अल-बुख़ारी, हदीस नं० 19)

इस हदीस का मतलब क्या है? (मज़ क़ुर्रत-उल-ऐन, लाहौर)

इस हदीस-ए-रसूल में तम्सील की ज़बान में यह बताया गया है कि एक ज़माना आएगा, जबकि इंसान के लिए फ़ित्ने से बचने की सूरत सिर्फ़ यह होगी कि वह अपने और अपने घरवालों के लिए सादा ज़िंदगी पर राज़ी हो जाए। अगर वह सादा ज़िंदगी से ज़्यादा चाहेगा तो वह सिर्फ़ इस क़ीमत पर मुम्किन होगा कि दीनी एतिबार से उसकी तरक़्क़ी बंद हो जाए। उसकी मारिफ़त का सफ़र रुक जाए। अगर वह सादा ज़िंदगी से ज़्यादा चाहेगा, तो वह सिर्फ़ इस सूरत में होगा कि वह

अपनी आमदनी को बढ़ाए। अपने आपको ज़्यादा-से-ज़्यादा दुनिया में लगाए। अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए माद्दी ज़िंदगी के लिए सारा वक़्त इस्तेमाल करे।

इस दुनिया में आदमी के लिए दुनियापरस्ती से बचने की सूरत सिर्फ़ यह है कि वह ऐश-परस्ती (luxurious lifestyle) को अपना निशाना बनाने के बजाय— simple living, high thinking— 'सादा ज़िंदगी, ऊँची सोच' का तरीक़ा इख़्तियार करे। वह अपने अंदर रब्बानी शख़्सियत की तामीर करे, जो उसे अब्दी जन्नत का मुस्तहिक़ बनाएगी।

इस दुनिया में शैतान से बचने की सिर्फ़ एक सूरत है और वह है सादा ज़िंदगी। इसके बजाय आदमी अगर कोई और ज़िंदगी इख़्तियार करे, तो वह शैतान के फ़रेब से बच नहीं सकता। वह शैतान के फ़ित्नों का शिकार होकर रहेगा।

RNI No. 50760/90

## शांति और आध्यात्मिकता पर और किताबें।
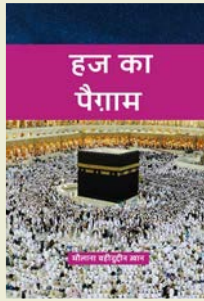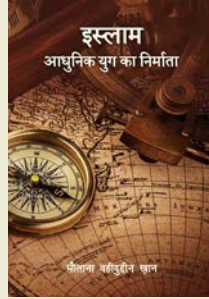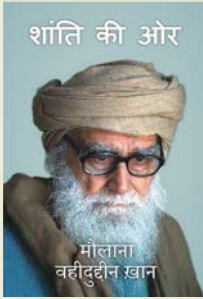
## आध्यात्मिक सेट

₹30/-

₹40/-

₹20/-

₹40/-

₹30/-

₹45/-

₹20/-

₹40/-